सहजानंद शास्त्रमाला

अध्यात्मसहस्री प्रवचन

चतुर्थ भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक **'अध्यात्मसहस्री प्रवचन चतुर्थ भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अध्यात्म सहस्री के **दशम परिच्छेद** पर वर्णीजी के प्रवचन संकलित हैं।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे |

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री **सुरेशजी पांड्या**, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 3000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **कु. प्रतीक्षा जैन,गांधीनगर** इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत
विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी''सहजानन्द'' महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

अध्यात्मसहस्री प्रवचन चतुर्थ भाग

(दशम परिच्छेद)

[प्रवक्ता- अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री 105 क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी महाराज]

आगमिक दृष्टि— आत्मतत्त्व के वर्णन के प्रसंग में प्रसंगवश कहीं-कहीं कुछ नयों द्वारा आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया था। अब यहाँ कुछ क्रम रखकर बहुत से नयों द्वारा आत्मतत्त्व के परिज्ञान की बात चलेगी। किस नय से आत्मा कैसा है, इसको विश्लेषण सहित जानने से पहिले कुछ प्रमुख नयों के नाम समझ लीजिए। ऐसे नय कितने हो सकते हैं जितने की भाव हों, अभिप्राय हों। जितनी दृष्टियाँ होंगी उतने ही नय बन जाया करते हैं। ऐसे नय जिनका कि वर्णन इस प्रकरण में चलेगा इस प्रकार बताये जा सकते हैं कि नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत- ये 7 नय तो आगम में क्रमश: उल्लिखित हैं, और वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक- इन दो भागों में विभक्त हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि— इनके अतिरिक्त आध्यात्मिक प्रकार से कुछ नय व्यवहार में और हमारे कल्याण की साधना में आ सकते हैं। निरपेक्ष शुद्ध निश्चय, परमशुद्ध निश्चय, शुद्ध निश्चय, अशुद्धनिश्चय, ये चार प्रकार के नय निश्चयनय से सम्बंधित हैं। जबकि एक पदार्थ को ही देखा जा रहा हो, एक में एक को ही निरखा जा रहा हो, ऐसे एक की सीमा में रहकर जितने प्रकार से परिज्ञान हो सकता है वे संक्षेप में चार प्रकार बन जाते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ व्यवहार सम्बंधित नय हैं। निमित्तसम्बंधक व्यवहार, आश्रयसंबंधक व्यवहार, उभयसम्बंधक व्यवहार, उपचरित असद्भूत व्यवहार, अनुपचरितासद्भूत व्यवहार, अनुपचरित सद्भूतव्यवहार- ये व्यवहार के प्रकार हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टि— अब इन आध्यात्मिक प्रकारों के अतिरिक्त सैद्धान्तिक प्रकार से भी कुछ नय बनते हैं। जैसे- परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय, भेदकल्पना निरपेक्ष द्रव्यार्थिकनय, स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय, परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय, अन्वयद्रव्यार्थिकनय, उत्पाद व्ययगौणसत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय, कर्मोपाधिनिरपेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय, कर्मोपाधिकसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय, भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय, अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय- ये 10 प्रकार के नय

द्रव्यार्थिकनय में अन्तर्गत किये जाते हैं। इनके आशय में आत्मा किस प्रकार नजर आता है, यह बात भी इस विवेचना में दिखायी जायेगी। इनके अतिरिक्त इसी सैद्धान्तिक प्रक्रिया में पर्यायार्थिक दृष्टि में अन्य प्रकार से भी नय बनते हैं। जैसे अनादि नित्यपर्यायार्थिकनय, सादिनित्यपर्यायार्थिकनय, सत्तागौण उत्पादव्ययग्राहक अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय, कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय, सत्तासापेक्षअनित्य अशुद्धपर्यायार्थिकनय, कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य अशुद्धपर्यायार्थिकनय, ये पर्यायार्थिकनय में अन्तर्भूत होने वाले पर्यायार्थिकनय के प्रकार हैं।

स्फुट दृष्टियाँ— इनके अतिरिक्त अन्य कुछ स्फुट नयों से विचार चल सकता है। शुद्धसद्‌भूतव्यवहारनय, अशुद्धसद्‌भूतव्यवहारनय, द्रव्यनय, विकल्पनय, अवक्तव्यनय, पर्यायनय, अभेदनय, नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय, भावनय, सामान्यनय, विशेषनय, सर्वगतनय, असर्वगतनय, शून्यनय, अशून्यनय, ज्ञानज्ञेयद्वैतनय, ज्ञानज्ञेयाद्वैतनय, नियतिनय, अनियतिनय, स्वभावनय, अस्वभावनय, कालनय, अकालनय, पुरषकारनय, दैवनय, पारतंत्र्यनय, स्वातंत्र्यनय, कर्तृनय, अकर्तृनय, भोक्तृनय, अभोक्तृनय, क्रियानय, ज्ञाननय, व्यवहारनय, निश्चयनय, अशुद्धनय, शुद्धनय, ये कुछ स्फुटनय के प्रकार हैं। उक्त समस्त पद्धतियों के समस्त नयों में क्रमशः अब यह दिखा रहे हैं कि इस नय से आत्मा किस प्रकार दिखता है।

नैगमनय में आत्मदर्शन का प्रकार— सर्वप्रथम नैगमनय से आत्मतत्त्व के परिज्ञान की बात कही जा रही है। नैगमनय से यह आत्मा अनन्तगुण और वर्तमान भूत भविष्य की अनन्तपर्यायों का पुञ्ज है, इस प्रकार दृष्टि में आता है। नैगमनय सब नयों में विशाल विषय वाला नय है। यह नय अनादि अनन्त समस्त गुणपर्यायों के पुञ्जरूप में आत्मा को दिखाता है। तो नैगमनय की दृष्टि में आत्मा अनन्तगुणों का पुञ्ज है और भूत में जितनी पर्यायें हो चुकी, भविष्य में जितनी पर्यायें होंगी, वे हैं अनन्त और वर्तमान का एक परिणमन, इस तरह अनन्तानन्त पर्यायों का पुञ्ज यह आत्मा है, यह विदित होता है। नैगमनय की व्युत्पत्ति है 'न एकः गमः जो' एक को प्राप्त न हो, जो अनेक को, विशाल को दृष्टि में ले उसे नैगमनय कहते हैं। अथवा 'निगमः संकल्पः तत्र भवः नैगमः' अर्थात् जो संकल्प में होवे उसका नाम नैगमनय है। संकल्प करके जो तत्त्व परिज्ञात होता है वह नैगमनय का विषय है। दोनों प्रकार के अर्थों से जब आत्मा को निरखा जा रहा है तो यह आत्मा अनन्तगुण और अनन्त पर्यायों का पुञ्ज है, इस प्रकार दिखता है। द्रव्य कितना है, यह बात कभी एक समय में नहीं बतायी जा सकती, द्रव्य की विशालता किसी एक पर्याय को लेकर नहीं कही जा सकती। नैगमनय में सत् असत् दोनों का संग्रह है। असत् के मायने सर्वथा असत् नहीं, किन्तु जो पर्यायें अभी नहीं हैं अथवा हो चुकी हैं वे वर्तमान दृष्टि से असत् हैं और जो वर्तमान में हैं वे वर्तमान दृष्टि से सत् हैं। सबका पुञ्ज यह आत्मा है। आविर्भूत तिरोभूत समस्त गुणपर्यायों का पिण्ड आत्मा है। यह नैगमनय ने समझाया।

संग्रहनय आत्मदर्शन का प्रकार— संग्रहनय से आत्मा कैसा है? अनन्तशक्त्यात्मक एक अभेदपिण्डरूप यह आत्मा है। एक पदार्थ को निरखते हैं और एक ही पदार्थ में संग्रह भी देखते हैं तो एक पदार्थ भेददृष्टि से निरखने पर अनन्तशक्तिरूप नजर आता है। पदार्थ अनन्त शक्तिमय है। उन अनन्त शक्तियों का पिण्ड यह आत्मा है संग्रहनय से यह भी निरखा जा सकता है कि लोक में जितने भी आत्मा हैं शुद्ध हों, अशुद्ध हों, मुक्त हों, संसारी हों, सम्यग्दृष्टि हों, मिथ्यादृष्टि हों, केवल आत्मतत्त्व को जब हम निरखते हैं तो उस स्वरूप में समस्त जीव एक समान है। तो संग्रहनय से आत्मतत्त्व का जो स्वरूप कहा जायेगा उस स्वरूप में समस्त आत्माओं का संग्रह है। कोई आत्मा छूटता नहीं है। सभी आत्मा एक चैतन्यस्वरूप हैं। तब ''चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व'' इस कथन में सबका संग्रह है अथवा समस्त जीवों में पाया जाने वाला जो एक स्वरूप है उस स्वरूप पर दृष्टि संग्रहनय दिलाता है। आत्मा को जब हम संग्रहनय से देखते हैं तो हम सबमें एक प्रकार पाया जाता है और इस ही नय का एकान्त लेकर कुछ दार्शनिकों ने यहाँ तक कह डाला कि ब्रह्म एक है और यह जगत चराचर पदार्थ सब उसकी माया है, अथवा ये प्रकृति के विकार हैं, वह तो मात्र चिन्मात्र है, चैतन्यस्वरूप है। जानना देखना भी उस ब्रह्म का स्वरूप नहीं। यह भी माया है, घटता बढ़ता है, विषम है। ये उत्पन्न होते हैं, प्रकृति के विकार हैं। यह एकान्त में ऐसा सर्वाद्वैत का कथन हो जाता है, किन्तु नाप का जितना स्वरूप है, जितनी उसकी हद है उसको दृष्टि में रखकर निरखने पर कभी विवाद नहीं रहता। नय का प्रयोग होता है वहाँ जहाँ प्रमाण से वस्तु को सम्पूर्णतया ज्ञात कर लिया गया हो और फिर प्रकरणवश किसी एक धर्म को निरखा जा रहा हो, तब नयों का प्रयोग संगत होता है। तो इस नय की प्रक्रिया से संग्रहनय से आत्मतत्त्व को जानने पर इस तरह से ही विदित होता कि चैतन्यस्वरूप आत्मा है, जो सर्वजीवों में एक समान स्वरूप है अथवा अनन्तशक्तियों का पिण्ड यह आत्मा है।

व्यवहारनय में आत्मदर्शन का प्रकार— व्यवहारनय से यह आत्मा ज्ञानवान है, चारित्रवान है, श्रद्धावान है, आदिक अनेक प्रकारों में नजर आता है। व्यवहारनय कहते उसे हैं कि संग्रहनय से ग्रहण किए हुए पदार्थ का विधिपूर्वक भेद करना। संग्रहनय ने एक आत्मा को ही जाना था, एक अनन्तशक्त्यात्मक अभेद पिण्ड। अब एक ही आत्मा को व्यवहारनय से जब जानने चलेंगे तो अनन्त शक्तियों वाला वह पृथक्-पृथक् रूप से भेद में नजर आयेगा। जैसे आत्मा ज्ञानवान है। ज्ञान कोई आत्मा से अलग गुण नहीं है अथवा ज्ञानमय ही तो आत्मा है लेकिन ज्ञान का और आत्मा से भेददृष्टि करके आत्मा को ज्ञानवान कहना यह व्यवहारनय का विषय है। इस नय को एक वस्तु में भी घटित कर लीजिए और अनेक वस्तुओं में भी घटित कर लीजिए। जब अनेक वस्तुओं की अपेक्षा से व्यवहारनय का प्रयोग होता है तब इस तरह प्रयोग होगा कि जीव यह तो संग्रहनय से ग्रहण किया गया। जिसमें सभी जीव आ गए। अब उस जीव का विधिपूर्वक भेद करने चलते हैं तो जीव दो प्रकार के हैं- मुक्त और संसारी। तो मुक्त और संसारी ये प्रकार बताना, भेद बताना व्यवहारनय है। अब एक

ही पदार्थ में व्यवहारनय को घटित करें तो आत्मा तो वह एक है, अनन्त शक्तियों का पिण्ड है। अब इस ही आत्मा में शक्तियों को अलग-अलग निरख-निरखकर उन-उन शक्तियों से सम्पन्न बताना व्यवहारनय है। आत्मा ज्ञानवान है। इस दृष्टि में आत्मा को ज्ञानगुण की मुख्यता से निरखा गया। आत्मा दर्शनवान है। आत्मा में जो दर्शनगुण पाया जाता है उस दर्शनगुण की मुख्यता से आत्मा को निरखा गया। आत्मा चारित्रवान है आदिक रूप से जितने गुण हैं उन-उन गुणों की मुख्यता से जीव को निरखना व्यवहारनय का विषय है। इस व्यवहारनय के एकान्त हठ में कुछ ऐसे भी सिद्धान्त बन जाते हैं जैसे कि कहना कि आत्मा अथवा ब्रह्म केवल आनन्दमय है। यहाँ ज्ञान का निषेध किया गया। ज्ञान आत्मा का स्वरूप नहीं, किन्तु आनन्द ही स्वरूप है। जब कोई दर्शन सिद्धान्त यों कहते हैं कि आत्मा ज्ञानमात्र है, उसमें आनन्द आदिक गुण भी नहीं हैं, वह काल्पनिक है आदिक रूप से व्यवहारनय का एकान्त करके एक-एक स्वरूप बन जाता है। पर जो नयों के स्वरूप का पारखी हो वह समझता है कि व्यवहारनय से आत्मा आनन्दमय है। इसका निष्कर्षरूप अर्थ यह है कि सिर्फ आनन्दमय है, इतना ही स्वरूप न समझना, किन्तु संग्रहनय से अनन्तशक्त्यात्मक जाने गए आत्मा में भेद करके कहा जा रहा है। अत: ऐसी दृष्टि बनने पर कोई विवाद नहीं रहता।

ऋजुसूत्रनय में आत्मदर्शन का प्रकार— नैगम, संग्रह, व्यवहार, ये तीन नय तो शाश्वत तत्त्व के बताने वाले हैं। अब जो पर्यायें हैं, क्षणिक तत्त्व हैं, उनके बताने वाले चार नय यहाँ कहे गए हैं। उनमें प्रथम ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान पर्याय को विषय करता है। जो वर्तमान में अवस्था है उस अवस्था का ही ज्ञान करा देना ऋजुसूत्रनय का काम है। फिर ऋजुसूत्रनय से जो अवस्था जानी उसमें और भेद करके कि इसको इस शब्द से ही कहा जायेगा, अन्य शब्द से नहीं, यों शब्दनय होता। और शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, उनमें से यह शब्द इस ही अर्थ को ग्रहण करेगा यह समभिरूढ़नय है। और उस शब्द से उस अर्थ की उस क्रिया में व्याप्ति होने की दिशा में ग्रहण करना एवंभूतनय का काम है। तो ऋजुसूत्रनय, जिसका कि वर्णन नवम परिच्छेद में बहुत विस्तारपूर्वक किया गया है, उस नय की दृष्टि में आत्मा वर्तमान परिणमनमात्र है। द्रव्य कितने हैं? जितने वर्तमान परिणमन। देखिये एक दृष्टि से निरखा जाय तो तत्त्व केवल दो प्रकारों में मिलेगा- पदार्थ और परिणमन। गुण तो पदार्थ को ही भेददृष्टि से देखी जाने की बात है, पर इन दो बातों को किसी भी तरह हटाया नहीं जा सकता। चीज है और उसकी अवस्था है। कहीं भी निरख लो, कुछ भी देख लो, दो तत्त्व मानने ही होंगे। कोई चीज है जो हमेशा रहती है और उसकी अवस्था है। यदि अवस्था न मानें तो चीज कुछ नहीं रहती। चीज न मानें तो अवस्था कहाँ टिकेगी? इस कारण दो बातें मानना अति आवश्यक हो जाती हैं। तो उसमें चीज के बारे में तो तीन थे, नैगम, संग्रह, व्यवहारनय बताये गए हैं। और अवस्था को जानने के लिए यहाँ ऋजुसूत्रनय बताया जा रहा है। देखने में भी यह आता है कि जब हम जो पदार्थ देखते हैं वह पदार्थ उस वर्तमान अवस्थामात्र है। कुछ भी यहाँ आँखों दिख रहा है वह सबमें आकार और अवस्थामात्र

नजर आ रहा है। तो ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में आत्मा वर्तमान पर्यायमात्र है। जब कोई आत्मा क्रोधी हो रहा है, क्रोधकषाय में चल रहा है उस समय आत्मा क्रोधमात्र समझ में आयेगा ऋजुसूत्रनय के आशय में। क्योंकि यह नय केवल एक परिणमन को निरखता है। जब आत्मा मानकषाय में चल रहा तो आत्मा मानकषायमात्र है। जब आत्मा कषाय से अलग होकर केवल एक अविकार स्थिति में चल रहा है तो आत्मा अविकारमात्र है। आत्मा ज्ञानमात्र है, स्वरूपमात्र है। जब जो पर्याय गुजरती है उस समय पर्यायमात्र आत्मा को देखने का काम ऋजुसूत्रनय का है।

शब्दनय में आत्मदर्शन का प्रकार— ऋजुसूत्रनय में ही और भेद करके शब्दनय का अवतार होता है। शब्दनय भिन्न-भिन्न शब्दों से भिन्न-भिन्न रूप में ग्रहण करता है। जैसे स्त्री के वाचक 3 शब्द हैं- दारा, भार्या और कलत्र अथवा अनेक शब्द हैं। स्त्री भी स्त्रीवाचक शब्द है। अब इन शब्दों के अर्थ से अगर देखा जाय तो जो स्त्री है वह कलत्र नहीं, जो कलत्र है वह भार्या आदिक नहीं, क्योंकि इनका अर्थ जुदा-जुदा है। स्त्री का नाम दारा है। लोग जब स्त्री पर क्रुद्ध होते हैं, गाली गलौज देते हैं तो उसे दारी कह देते हैं। तो दारी एक गाली का शब्द है। दार का अर्थ है- दारयति भेदयति भ्रातृन् इति दार:। जो भाई भाई को अलग करा दे। चूंकि स्त्री में एक प्रकृत्या ऐसा गुण है कि वह अपने पति, देवर, जेठ आदि इनको एक साथ सम्मिलित होकर नहीं रहने देना चाहती। तो इनको अलग-अलग करा देने की प्रकृति स्त्री में होती है तो उस प्रकृति की दृष्टि से स्त्री का नाम दार है। भार्या कहते हैं उसे जो गृहस्थी का भार बड़ी कुशलता से निभाये। भार्या शब्द से एक गृहस्थी को निभाने की कुशलता की मुख्यता से स्त्री का ज्ञान किया गया है। कलत्र कहते हैं उसे जो कल की रक्षा करे। कल मायने शरीर। जो शरीर की रक्षा करे उसे कलत्र कहते हैं। स्त्री अपने पतिपुत्रादिक की यथायोग्य शुश्रूषा करके रक्षा करती है अत: उसका नाम कलत्र है। स्त्री नाम उसका है- स्त्यायति गर्भ: यस्यां, जिसमें गर्भ रहे। तो इन शब्दों के अर्थ भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार में स्त्री का बोध हुआ। इस प्रसङ्ग में ऋजुसूत्रनय से तो यह था कि चाहे किसी भी शब्द से बोला जाय, एक स्त्रीवाची शब्द होना चाहिए। तो ऋजुसूत्रनय से ग्रहण किए गए किसी वर्तमानभाव में शब्द की दृष्टि से और भेद कर देना, यह शब्दनय का काम है। तो शब्दनय से पुरुष कैसा है- जो पुरुषार्थ कर रहा हो, आत्मपौरुष करता हो उसे पुरुष कहते हैं। ऐसी स्थिति में आत्मा को देख रहा है शब्दनय। इस नय में जिस शब्द से आत्मा को देखना है उस अर्थ में आत्मा का ग्रहण होता है। ब्रह्म— स्वगुणैवृध्नाति इति ब्रह्म, जो अपने गुणों से वृद्धिशील हो वह ब्रह्म है। आत्मा का अर्थ है जो निरन्तर जानता रहे सो आत्मा। आत्मा शब्द से जब आत्मा को देखा तो यह निरन्तर जाननशील है, इस रूप में आत्मा नजर आयेगा। यों भिन्न-भिन्न नयों के आशय में आत्मा भिन्न-भिन्न प्रकार से दृष्टिगत होता है।

समभिरूढ़नय व एवंभूतनय से आत्मदर्शन के प्रकार— आत्मा का स्वरूप तथा आत्मा की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न नयों की दृष्टि में बतायी जा रही हैं। समभिरूढ़नय से यह आत्मा ज्ञानद्वारा व्यापक प्रतिभासस्वरूप है।

समभिरूढ़नय किसी एक अर्थ में प्रसिद्ध करने को कहते हैं। आत्मा की प्रसिद्धि किस अर्थ में है। आत्मा शब्द कहकर एकदम किस प्रकार से वस्तु का बोध कराया जाता है? वह वस्तु है प्रतिभासस्वरूप। समस्त पदार्थों में जो प्रतिभासस्वरूप हो वह आत्मा। पदार्थ 6 जाति के होते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनमें केवल जीव पदार्थ ही प्रतिभासस्वरूप है और वह प्रतिभास असीमित है। ज्ञान द्वारा व्यापक है। जो जो कुछ भी सत् है वह सब ज्ञान में ज्ञेय होता है। छद्मस्थ अवस्था में ज्ञानावरण के उदय के निमित्त से भले ही ज्ञानप्रकाश परिपूर्ण नहीं होता किन्तु ज्ञान में कला और सामर्थ्य ऐसी ही है कि जितना जो कुछ भी सत् है। त्रिकाल, त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ ज्ञान में प्रतिनियत होते हैं तो आत्मा का यह प्रतिभासस्वरूप ज्ञान द्वारा व्यापक है, ऐसे आत्मा को समभिरूढ़नय निरखता है। एवंभूतनय से आत्मा सतत् सर्व का जाननहार है। एवंभूतनय कहते हैं उसे कि जिस शब्द का जो अर्थ है उस अर्थ में व्याप्त पदार्थ को ही जाने। आत्मा शब्द का अर्थ है अतति सततं गच्छति जानाति इति आत्मा। जो निरन्तर जानता रहे उसे आत्मा कहते हैं। तो आत्मा सबका निरन्तर जाननहार है। ऐसा ज्ञान होने के कारण अर्थात् जबकि आत्मा निरन्तर जाननहार बन रहा है उस समय सर्व का जाननहार यह आत्मा एवंभूतनय से विदित होता है। यों नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवंभूतनय जो कि आगम प्रसिद्ध 7 नय हैं उन नयों की दृष्टि में आत्मा किस-किस प्रकार से ज्ञात होता है? यह वर्णन किया गया।

निरपेक्ष शुद्धनय में आत्मदर्शन का प्रकार— अब अध्यात्मविधि में विशेषतया प्रयोग में आने वाले नयों की दृष्टि से वर्णन करते हैं। अध्यात्मविधि में नयों के दो प्रकार उपयुक्त होते हैं- निश्चयनय और व्यवहारनय। निश्चय नय तो एक वस्तु को एक में ही निरखता है, व्यवहारनय दो पदार्थों को अथवा दूसरे पदार्थों के निमित्त से अन्य पदार्थों में होने वाले प्रभाव को निरखता है। निश्चयव्यवहार इन नयों में से पहिले निश्चयनय की बात कह रहे है। निश्चयनय मुख्यतया तीन प्रकारों में बँटा हुआ है- परमशुद्धनिश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय। जब स्वभाव की दृष्टि करके निश्चयनय से देखा जाता है तो वह परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि कहलाती है। जब शुद्ध पर्याय को एक के ही निरखने का यत्न होता है तो उसे शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि कहते हैं। जब अशुद्धपर्याय को उस ही एक में निरखने की दृष्टि होती है तो उसे अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि कहते हैं। किन्तु जब किसी का भी आश्रय न रखकर निरखा जाता है तो उसे निरपेक्षनय कहते हैं। तो निरपेक्षनय से शुद्ध आत्मा निस्तरंग अभेद अनुभवनमात्र है। परमशुद्ध निश्चयनय में स्वभाव का आलम्बन लेकर देखने की बात थी। निरपेक्ष शुद्धनय में यह बताया जा रहा है कि परमशुद्ध निश्चयनय से देखने पर आत्मा में जो प्रभाव होता है, जो अनुभवन होता है केवल उस अनुभवनमात्र आत्मतत्त्व को दिखाया जाय, उसमें स्वभाव गुण पर्याय किसी का आलम्बन न हो, ऐसी स्थिति में जो आत्मदर्शन होता है उसे कहते हैं, निरपेक्ष शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में आत्मदर्शन। तो निरपेक्ष शुद्धनय से यह आत्मा निस्तरंग है। तरंग की प्रतिष्ठा निरपेक्षता

में नहीं है। और अभेद है किसी भी प्रकार का भेद, स्वभाव स्वभाववान तक का भी भेद निरपेक्ष शुद्धनय में नहीं होता। तब यह जैसा है, जिस अनुभवस्वरूप है तन्मात्र आत्मा है। यह निरपेक्ष शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में आत्मदर्शन है।

परमशुद्ध निश्चयनय में आत्मदर्शन का प्रकार— परमशुद्धनिश्चय नय से आत्मा चैतन्यस्वरूप है। परमपारिणामिक भावरूप है। आत्मा में जो स्वरूप है, स्वभाव है उस स्वभाव का आलम्बन लेकर स्वभाववान में अभेद करके जो निरखा गया है वह परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है। परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में कोई पर्याय शुद्ध नहीं होती, क्योंकि पर्यायें स्वभाव की अपेक्षा सब अशुद्ध हैं। अशुद्ध का अर्थ मलिन नहीं, किन्तु चाहे मलिन हो, चाहे अविकारी हो, जो शाश्वत न रहे, जिसमें हानिवृद्धि हो, परिणमन हो, उत्पादव्यय हो उसे केवल शाश्वत न होने से अशुद्ध कह सकते हैं। तो परमशुद्ध निश्चयनय में पर्याय सम्बंध की भी अशुद्धता नहीं हैं। केवल एक स्वभाव का दर्शन है। इस दृष्टि में आत्मा चैतन्यमात्र विदित होता है। चिन्मात्र-अनादि अनन्त स्वसहाय, अभेद निस्तरंग केवल चैतन्यस्वरूप, इसको परमपारिणामिक भाव भी कहते हैं। पारिणामिक भाव की व्युत्पत्ति है— परिणाम: प्रयोजनं य यसा पारिणामिक:, अर्थात् परिणाम ही जिसका प्रयोजन है अर्थात् परिणाम जिसका होता रहता है वह पारिणामिक है। 'परिणाम: यस्य'— यह कहने पर उसे ग्रहण किया गया शाश्वत है। किसी शाश्वत तत्त्व में ही तो परिणमन की बात कही जा सकती है अन्यथा परिणमन न कहा जायगा। तो जिस स्वभाव का परिणमन होता है अपनी जाति में वह स्वभाव परम है, उत्कृष्ट है, आत्मा का प्राणभूत है। जैसे अग्नि का प्राण गर्मी है, गर्मी न रहे तो वहाँ अग्नि क्या रही? गर्मी के व्यय होने से अग्नि का भी व्यय है। यह दृष्टान्त स्थूल है, इस कारण यहाँ तो यह सम्भव है कि जल डाल दिया जाय तो अग्नि बुझ जायगी, गर्मी भी समाप्त हो जायगी और अग्नि भी समाप्त हो जायगी, लेकिन चेतन का चैतन्यस्वरूप है और वह चेतन का प्राण है। इस चैतन्यस्वरूप का कभी भी व्यय नहीं होता, क्योंकि चेतन द्रव्य है। अग्नि खुद पर्याय थी इस कारण वह स्थूल दृष्टान्त था। द्रव्य में जो स्वभाव है उस स्वभाव का कभी भी अभाव नहीं होता। तो परम शुद्धनिश्चय नय में आत्मा चैतन्यस्वरूप का कभी भी अभाव नहीं होता। तो परमशुद्धनिश्चयनय में आत्मा चैतन्यस्वरूप और परमपारिणामिक भावरूप विदित होता है। इसमें न पर्याय दृष्टिगत है, न किसी प्रकार का भेद दृष्टिगत है, किन्तु एक चिन्मात्र का ही परिचय है।

शुद्धनिश्चयनय में आत्मदर्शन का प्रकार— शुद्धनिश्चयनय से आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्दमय है। आत्मा का जो शुद्ध विकास है, घातिया कर्मों के क्षय होने से आत्मा के गुणों का जो परिपूर्ण विशुद्ध विकास है वह शुद्धपरिणमन है। उस शुद्ध परिणमन को आत्मा में निरखना, जिसमें कि यह विधि अन्तर्गत है कि वह शुद्ध परिणमन आत्मा में हुआ है, आत्मा के द्वारा हुआ है, आत्मा से हुआ है, आत्मा के लिए हुआ है। जहाँ अभिन्न षट्कारता की विधि निहित है इस पद्धति से जहाँ शुद्ध पर्याय को आत्मा में

तकना, यह शुद्धनिश्चयनय से आत्मा का दर्शन हैं। इस नय का विषयभूत प्रभुस्वरूप है, भगवान वीतराग है और उनका स्वभाव शुद्ध विकसित है। भगवान परमात्मा का अर्थ ही यह है कि उपाधि का सद्भाव व प्रभाव न रहे और अपना जो निज सत्त्व का स्वभाव है वह विशुद्ध पूर्ण विकसित हो, उसी के मायने हैं भगवान। तो भगवान आत्मा वीतराग है और पूर्ण प्रतिभासस्वरूप है। तो प्रभुभक्ति की उत्कृष्टता शुद्धनिश्चयनय के विषय में बनती है। शुद्धनिश्चय नय शुद्धपर्याय से परिणत आत्मा को निरखता है और इस विधि से निरखता है कि अपने चतुष्टय की परिणति से ही यह आत्मा शुद्धपर्यायरूप बना है। एक से एक में निरखने की बात निश्चयनय का स्वरूप कहलाता है। जब प्रभु के देह की दृष्टि छोड़कर, प्रभु के अतिशयों की दृष्टि छोड़कर अंत: अतिशय को निरखते हैं केवलज्ञानमय, जिस ज्ञान में त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त सत् ज्ञेय हैं, केवल दर्शनमय- जिस दर्शन में अनन्त ज्ञान परिणत आत्मा दृष्टिगत है, ऐसी अनन्त शक्तियाँ जहाँ हैं और विशुद्ध शाश्वत निरूपाधि अनन्त आनन्द जहाँ प्रकट है और यह सब विकास उसे आत्मा में आत्मा से ही चल रहा है, अपने आधार पर चल रहा है, किसी परवस्तु की अपेक्षा से नहीं हैं ऐसा एक आत्मा में यों शुद्धपर्याय को निरखने पर शुद्धनिश्चयनय से आत्मदर्शन होता है।

अशुद्धनिश्चयनय में आत्मदर्शन का प्रकार— अशुद्धनिश्चय नय से आत्मा रागादिमान है। इस संसार अवस्था में यह जीव रागादियुक्त है, सो इस रागादि के प्रसंग में जब केवल निश्चयनय की पद्धति से देखा जा रहा हो कि यह आत्मा रागी है, इसमें रागपरिणमन हुआ है, अपने ही चतुष्टय की परिणति से रागपरिणमन हुआ है, इस राग का प्रयोजन, इस राग का आधार, इस राग का साधन, इस राग का आविर्भाव यह आत्मा स्वयं हो रहा है, ऐसा केवल एक आत्मा में ही रागपर्याय को निरखना और निश्चयनय की विधि से निरखना, यह है अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा की परख। आत्मा रागादिमान है, इस दृष्टि में यह बात नहीं आ रही है कि कर्मों के उदय से आत्मा रागादिमान बन रहा है। यहाँ निश्चयनय की दृष्टि होने से दो पदार्थों पर दृष्टि नहीं हैं। इतना तक भी दृष्टिगत नहीं है कि कर्मोदय तो मात्र निमित्त है और आत्मा में ये रागादिक प्रभाव स्वयं हुए हैं क्योंकि इस कथन में द्वैत पदार्थ तो आ ही गए। आत्मा में यह प्रभाव स्वयं हुआ है और अपनी परिणति से यह आत्मा रागादिमान है, मात्र इतना निरखना अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में हो जाता है। तो अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में यह आत्मा रागादिमान है। यों अध्यात्मविधि में उपयोगी निश्चयनय के प्रकारों से आत्मा के स्वरूप की परख की गई है। आत्मा किस दृष्टि से किस प्रकार से नजर आता है? इसका ठीक निर्णय न करने वाला पुरुष दूसरे के प्रत्येक कथन में विवाद उठाने लगता है, किन्तु नयों की परख करने वाला पुरुष किसी भी मंतव्य में समन्वय कर सकता है। कोई भी पुरुष कुछ भी सोचता है ज्ञानरूप तो वह है और वह यदि एक कल्याण बुद्धि से, हितबुद्धि से बनावट करके, कषाय करके नहीं किन्तु एक धर्म संकल्प से सोच रहा है तो कुछ तत्त्वों का ठीक परिज्ञान न होने से भले ही कुछ रूप सोच ले, लेकिन जिस रूप भी सोचेगा वह

किसी न किसी नय का विषय अवश्य है। उस नय की दृष्टि करके उसकी बात को सत्य बताया जा सकता है। तो यों अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में आत्मा रागादिमान है। इस प्रकार से आत्मा का दर्शन किया गया है।

निमित्तसम्बंधक व्यवहार में आत्मपरिचय का प्रकार— तब आत्मा के परिणमन में निमित्त क्या होता है? उस निमित्त के सम्बन्ध में दृष्टि की जाती है तो ऐसे आशय में कि जब परिणमन को जिस निमित्त से हुआ है उससे सम्बंध रखते हुए देख रहे हैं तो उस दृष्टि में यह आत्मा यों नजर आता है कि देखो यह जीव कर्मोदय के निमित्त से कषायादिकरूप परिणमने वाला है। यद्यपि यह बात तथ्य की है। इसको इन्कार नहीं किया जा सकता। आत्मा रागादिकरूप परिणमता है, इतनी बात यदि न मानी जाय तो आत्मा का पुरुषार्थ है ही क्या यहाँ? फिर मोक्ष का यत्न किसलिए करना? जब समझा कि आत्मा तो रागादिकरूप परिणम रहा है, जिसके कारण हम दु:खी हैं व संसार में रूलते फिरते हैं, तब हमें इस पर्याय को मिटाने की आवश्यकता मालूम हुई। तो रागादिकरूप आत्मा परिणम रहा है, इसको कोई निषेध नहीं कर सकता साथ ही इसका भी कोई निषेध नहीं कर सकता कि कर्मोदय के निमित्त से रागादिक रूप परिणाम रहा। यहाँ निषेध करने लायक बात इतनी ही है कि कर्मोदय की परिणति से आत्मा रागादिकरूप नहीं परिणमता। परिणतियाँ दोनों की अपने आपमें अलग अलग हैं। कर्मोदय की परिणति कर्म में है और रागादिकरूप परिणमने की परिणति जीव में हैं, पर कर्मोदय का निमित्त पाये बिना रागादिकरूप परिणम नहीं सकता आत्मा। यदि कर्मोदय के निमित्त बिना रागादिकरूप परिणमने लगे तब रागादिक होना जीव का स्वभाव बन जायगा, क्योंकि जो पर की अपेक्षा बिना, पर के सम्बंध बिना, पर का आलम्बन हुए बिना जो कुछ बनता हो वह तो स्वभाव की बात कहलायेगी। तब ऐसा निरखना कि कर्मोदय के निमित्त से अथवा कर्मोदय का निमित्त पाकर आत्मा रागादिकरूप परिणम रहा है, इस दृष्टि को कहते हैं निमित्तसम्बंधक व्यवहार। पर्याय का कथन चल रहा है, पर्याय की मुख्यता से निरखा जा रहा है, इस कारण व्यवहारनय है और इस पर्याय को निमित्त का सम्बंध बताकर देखा जा रहा है, इस कारण निमित्तसम्बंधक व्यवहार है।

सुनने और यथावत् समझने में सावधानी की आवश्यकता— इस प्रसंग में जितने भी नय बताये जायेंगे, वहाँ किसी नय की दृष्टि में ही सत्य है, सब नयों की दृष्टि में नहीं, इस बात को भी प्रतीति में रखते जाना चाहिये। जैसे लोक में यह कहते हैं कि हरा चश्मा लगावोगे तो कैसा दिखेगा? हरा। नीला, पीला, लाल आदिक चश्मा लगाओगे तो कैसा दिखेगा? नीला, पीला आदि। तो जैसे उन भिन्न-भिन्न चश्मों में भिन्न-भिन्न दर्शन होता है इसी प्रकार इन भिन्न-भिन्न नयों में भिन्न-भिन्न प्रकार से दर्शन होता है। और चश्मा कैसा ही लगाया जाय, और बात, कैसा ही दिखे, मगर दिखी तो वही एक चीज ना ! तो इस प्रकार इन नयों से चाहे किस ही प्रकार देखा जाय पर दिखा वह अर्थ ही, पदार्थ ही, अर्थात् ज्ञेय होता है तो पदार्थ होता है। यह कथन कोई कठिन नहीं है, लेकिन कोई पहिले से ही यह सोचकर बैठ जाय कि यह कठिन प्रकरण है, यह

तो समझ में आयगा नहीं, तो उसका उपयोग इस ओर जमेगा ही नहीं। जब अपनी ही बात कही जा रही हो अपने आपके भीतर क्या बात गुजर रही है, उसका ही वर्णन हो और अपनी ही मातृभाषा में वर्णन हो, सुगम सरल शब्दों में ही कहा जा रहा हो तो समझ में न आये, यह नहीं हो सकता, किन्तु रुचि चाहिए। रुचि बिना तो आँखों के सामने से भी कोई चीज निकल जाय तो वह भी भली प्रकार नहीं दिख सकती। चित्त हो और जगह, अथवा अन्य इन्द्रिय के विषय में लग रहा हो मन, ऐसी स्थिति में सामने से कोई कुत्ता भी निकल जाय तो उसे यह विदित नहीं हो पाता कि क्या निकल गया, कैसा निकल गया। तो जो एक साधारणसी बात हमारे रोज घटने की बात है उनमें ही जब रुचि न होने से, उपयोग न लगने से फर्क हो जाता है तो फिर जो बात अब तक न सुनी हो या कम सुनी हो उस तत्त्व की जानकारी के लिए उपयोग अगर न लगाया जाय तो समझ में कैसे आयगा?

व्यर्थ और बरबादी के लिये लगे हुए मोहादि विभाव से छुटकारा पाने में ही कल्याण— बात यहाँ कही जा रही है कि हम आप जीवों में जो रागादिक बन रहे हैं उनसे ही तो दु:ख है अन्यथा जीव को क्लेश क्या है? सब चीजें छूट जाने की हैं। पहिले भव की भी सारी चीजें छूट गयीं, इस भव की भी सब चीजें छूट जायेगी, जरा भी सम्बंध न रहेगा। अब जिन बातों से हमारा जरा भी सम्बंध नहीं रहने का, उनके प्रति हम अभी यह सोच लें कि उनके प्रति स्नेह रखने में, लगाव रखने में अब भी फायदा क्या है? आखिर वह दिन देखना ही तो पड़ेगा, वह समय भी तो आयगा कि हम उन सबसे अलग होंगे। तो विवेक इसमें है कि हम इसी समय से उन समागमों में अपना लगाव न रखें और सच्चा विवेक बनायें। इस मोह राग को छोड़े तो इस समय में भी हम शान्त हो जायेंगे और भविष्य में भी हम शान्त रह सकेंगे। तो जब चीज तो कुछ हमारे पास रहेगी नहीं, तो कर क्या रहे हैं हम? चीज को अपनी नहीं बना रहे, कोई वस्तु अपनी बन नहीं सकती, व्यर्थ का रागमोह कर रहे हैं। यह रागद्वेष मोह व्यर्थ की चीज है और आत्मा को दु:ख देने वाली है। तब क्यों न ऐसा यत्न किया जाय कि इस रागमोह को दूर कर दिया जाय। रागमोह दूर कब हो? जब पहिले यह समझ लें कि मुझे कष्ट देने वाले ये रागद्वेष मोहादि हैं। दुनिया में और कोई मेरा बैरी नहीं। हम स्वार्थवश किसी भी मनुष्य को अपना बैरी विरोधी समझ लेते हैं। अरे वह तो एक जीव है, चैतन्य असाधारण गुणमय है, वह है और परिणमता है, यही उसकी कहानी है। उसमें यह स्वभाव नहीं पड़ा है कि वह मेरा विरोधी हो। हमने उसे विरोधी समझा है। उसने तो अपनी कल्पना के अनुसार अपने भाव की चेष्टा इस प्रकार से की कि हम उसे बैरी समझने लगे। तब ऐसी स्थिति में दु:खी कौन हो रहा? हम ही, जो कि बैरी समझ रहे। कषायें चैन कहाँ लेने देंगी? जब हम किन्हीं वस्तुओं को उपयोग में इस तरह लें कि यह मेरा बैरी है, विरोधी है तो उस द्वेषभाव में हम ही तो दु:खी होंगे। तो जितने भी कष्ट हैं वे सब रागद्वेष मोह भाव के हैं। इन्हें दूर करने के प्रयत्न में आप तब ही चल पायेंगे जबकि यह समझ लेंगे कि ये रागद्वेष कषायभाव मेरे स्वरूप नहीं

हैं। मेरे स्वभाव नहीं हैं, मेरे खास तत्त्व हैं। तो हैं क्या? हैं कहाँ? मुझमें हैं और जिस समय हो रहे हैं, चूंकि मेरे परिणमन हैं, मुझमें ही तन्मय हैं, उनका प्रभाव यह होता है कि हम बरबाद होते जा रहे हैं। ये रागादिक भाव मेरे स्वरूप नहीं हैं, पर आये हैं, ये मिट सकते हैं, क्योंकि ये आये हैं कर्मोदय का निमित्त पाकर। देखिये शिक्षा जितनी हमें निश्चयनय के विवरण में मिलती है वैसी ही शिक्षा हमें व्यवहारनय के भी विवरण में मिल जाती है। यह तो व्यवहारनय की ही बात कही जा रही है। देखो— यहाँ कितनी शिक्षा मिली है? रागादिक कषाय मेरे स्वरूप में हो रहे हैं और कर्मोदय का निमित्त पाकर हो रहे हैं। इसलिए इनका जोर मुझमें नहीं है। जरा से विज्ञान की फूंक से इन्हें उड़ा दिया जा सकता है। तो निमित्त सम्बन्धक व्यवहार में जो भी तत्त्व दिखा उसमें हमको यह शिक्षा मिल जाती है।

आश्रयसम्बन्धक व्यवहार में आत्मपरिचय का प्रकार— अब निरखिये ऐसी दृष्टि की बात जबकि हम अपना परिणमन किसी बाह्य वस्तु का आश्रय बनाकर कर रहे हैं। उस दृष्टि में यह आत्मा किस प्रकार नजर आता है? यों विदित होता है कि स्त्री पुत्रादिक के आश्रय से यह आत्मा मोहादिकरूप परिणमन रहा है। मोह रागद्वेष ये ही अपने बैरी है। दूसरा कोई अपनी बरबादी कर सकने वाला नहीं है। बाकी तो सब पदार्थ जो आज समागम में हैं, कुछ समय तक हैं, जब हैं तब भी वे मुझसे अलग हैं, मेरी ओर तकते भी नहीं। यह पुरुष मकान आदिक की ओर बड़े लगाव से देखा करता है। एक भी ईंट फूट गयी तो उसका भीतरी दिल भी टूट गया ऐसे लगाव से तक रहा है, पर यह मकान तो आपको जरा भी नहीं तक रहा है। आपसे तो कुछ मतलब ही नहीं रख रहा। वह तो अपने आपके अणुवों में अपने आपका परिणमन कर रहा है। कुछ सम्बन्ध तो नहीं, पर यह जीव खुद ही एकाकी हठ से इन बाह्य पदार्थों को उपयोग में लेकर, उनका आश्रय बनाकर मोह रागद्वेष आदिक नानारूपों में परिणम रहा है। तो इस स्थिति में इस आत्मा को देखा जा रहा है तो यों नजर आता कि स्त्री पुत्रादिक के आश्रय से इस जीव में मोह रागद्वेषादिक बर्त रहे हैं।

आश्रय और निमित्त के परिचय का विवेक— इस प्रसंग में उन दो बातों का फिर से स्मरण कर लीजिए, जिनका पहिले भी जिक्र किया गया था कि हममें जो रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं, सुख दुःख आदिक अवस्थायें बनती हैं इन अवस्थाओं के बनने में कर्म तो निमित्त होते हैं और बाकी चीजें आश्रयभूत होती हैं। निमित्त का तो नैमित्तिक के साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध होता है। पर आश्रयभूत पदार्थ का कार्य के साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नहीं होता। इस तथ्य को न जानने के कारण ही अनेक लोग इस विवाद को ही नहीं सुलझा पाते और सोचते समझाते हैं— देखो— निमित्त कुछ भी नहीं करता, निमित्त की कुछ बात ही नहीं, वह तो उपचरित है। देखो— यह जीव समवशरण में अनेक बार गया, मगर सम्यक्त्व नहीं हुआ तो निमित्त ने क्या किया? इसी प्रकार देखो— मुनियों के सामने अनेक महिलायें दर्शन करती हैं, आहार देती हैं लेकिन उन मुनियों के चित्त में भी विकार नहीं आता, तो वहाँ निमित्त ने क्या किया? ऐसा सोचते हैं, पर यह नहीं सोचते

कि ये सब निमित्त नहीं हैं, ये आश्रयभूत पदार्थ हैं। उन मुनिजनों के उस प्रकार के अनन्तानुबंधी आदि कषाय निमित्त रहे ही नहीं, इसलिए मोहादिक नहीं उत्पन्न होते। उस जीव के जो समवशरण में गया है उसके सम्यग्दर्शन के घातक 7 प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम नहीं बन रहा। इसलिए निमित्त नहीं हुए। ये आश्रयभूत पदार्थ हैं निमित्त नहीं। निमित्त का नैमित्तिक के साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध होता है। यहाँ भी यह नहीं समझना है कि निमित्त से कार्य होता है। निमित्त तो एक सन्निधानमात्र है। सामने रह रहा है, वस्तु है। जिस प्रकार से उसमें निमित्तरूपता है सो ही है। उसका अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से बाहर गमन नहीं है और न उपादान में निमित्त का प्रवेश है, किन्तु बात यों ही लखी जा रही है, इसे कौन मना कर सकेगा? अग्नि का सन्निधान पाकर अनेक पकवान बनाये जाते हैं, पक जाते हैं। वहाँ भी अग्नि अपनी जगह छोड़कर पकवान में नहीं घुसी, पकवान ने भी अग्नि में से कोई चीज खींचकर अपने में नहीं ले गया। यदि अग्नि पकवान में घुसी हो तो अग्नि ठंडी या कम हो जानी चाहिए। या पकवान अग्नि में से कुछ खींचकर लाया हो तो भी अग्नि की यही हालत होनी चाहिए। पर स्पष्ट नजर आता है कि अग्नि का पानी में प्रवेश नहीं, पानी अग्नि को कुछ खींचकर लाता नहीं, फिर भी अग्नि का सन्निधान पाकर पानी गर्म हो जाता है। दोनों बातें स्पष्ट हैं। परिणमन की स्वतंत्रता और निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध, ये दोनों बातें स्पष्ट हैं। तो आश्रयभूत व्यवहार की बात चल रही है। इस व्यवहार में यह निरखा गया कि स्त्री पुत्रादिक के आश्रय से जीव के मोहादिक होते हैं। आश्रय होता है उपयोग के माध्यम से। उपयोग ने स्त्री पुत्रादिक को विषय किया है और उस कारण में इसके निमित्तभूत कर्म का उदय है, इस कारण रागादिक उत्पन्न होते हैं।

आश्रयसम्बन्धक व्यवहारनय में हुए अवगम से उपलब्धव्य शिक्षा— इस आश्रयसम्बन्धक व्यवहारनय में यों विदित हो रहा है कि यह जीव स्त्री पुत्रादिक का आश्रय पाकर मोहादिक रूप परिणम रहा है। शिक्षा हमें यह लेनी है कि आश्रय पाये बिना मोहादिक रूप नहीं बनता, भले ही कर्मोदय निमित्त है और स्त्री पुत्रादिक परपदार्थ निमित्त नहीं हैं, मगर जिस किसी का भी राग बन रहा है उस राग का रूप क्या है सो तो बताओ। वह किसी परपदार्थ विषयक ही होगा। राग में परपदार्थ न हो, और राग बन जाता हो ऐसा राग का निर्माण तो नहीं होता। तो राग ही क्या? किसी भी परतत्त्व में रुचि होना, राग होना, लगाव होना वही तो राग कहलाता है। तो जब परतत्त्व के आश्रय से राग का निर्माण हो जाता तो आश्रय को छोड़ देना बहुत कुछ हमारे हाथ की बात है। चरणानुयोग का निर्माण इसी आधार पर हुआ है। घर छोड़ना, स्त्री पुत्रादिक छोड़ना, परिग्रह का परिणाम करना, ये सब बातें इसलिए हैं कि ये रागादिक के आश्रयभूत हैं। ये हमारे सामने न रहेंगे तो कुछ तो अन्तर आ जायेगा। यद्यपि संस्कार जिसका विशेष है इन परपदार्थों के राग की ओर वे पदार्थ छोड़ भी दिए गए, लेकिन यह कह करके उनको चित्त में बसाकर राग कर सकता है। फिर भी यदि उस आश्रय को त्याग दिया और उस त्याग पर दृढ़ रहे कि उस आश्रय का अब समागम नहीं बनाना है तो यह

आदत भी थोड़े समय में मिट जायेगी। तो आश्रयसम्बन्धक व्यवहार में हमको यह शिक्षा मिलती है कि हम रागादिक के आश्रयभूत पदार्थों का यथाशक्ति परित्याग करते रहें।

उभयसम्बन्धकव्यवहार में आत्मपरिचय का प्रकार— अब तक निमित्त और आश्रय इन्हीं के सम्बन्ध से होने वाले व्यवहार की बात कही, अब देह के सम्बन्ध से होने वाले आश्रय की बात कह रहे हैं। यह देह भी या तो निमित्तभूत होगा या आश्रयभूत होगा। जब देह के सम्बन्ध से हमें राग मोह उत्पन्न हो रहा है, देह के निमित्त से कह लीजिए, चाहे देह के आश्रय से कह लीजिए, कुछ तो होगा। इस सम्बन्ध में थोड़ा यह विचार करें कि यदि इस देह को हम अपने राग में निमित्त कहते हैं तो यहाँ भी कुछ तथ्य लेना है, क्या कि इस देह का आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है और निकट सम्बन्ध है। जैसे कोई चीज टूट जाय तो उसके टूटने को देखकर भी दु:ख होता है और यदि देह में कोई अंगुली वगैरह टूट जाय या कहीं कोई चोट लग जाय तो उससे भी दु:ख होता है, तो परपदार्थ की चोट में भी दु:ख आता है इस मोही को और देह की चोट में भी दु:ख आता है, लेकिन परपदार्थ की चोट तो आँखों देखी जाती है, सो जब परपदार्थ सामने आया तब दु:ख है, लेकिन देह की चोट लग जाय तो इसको कुछ जल्दी भान होता है और ऐसी स्थिति प्राय: होती है कि भान हुए बिना रह नहीं पाता तो दु:खी होने लगता है। तो इतना कुछ निकट सम्बन्ध देखकर अगर अपने दु:खादिक में देह को निमित्त कह दिया जाय तो यह भी तथ्य की बात है, लेकिन इस देह का भी आत्मा के सुख दु:ख आदिक के साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। मुनिजनों को इतने उपसर्ग होते हैं और वे वेदना नहीं मानते। इस कारण से यह विदित होता है कि देह को निमित्त न कहा जाय किन्तु आश्रयभूत कहा जाय। जब उपयोग में देह के रोग, देह की चोट जानी जाती है और कर्मोदय का निमित्त है तो यहाँ भी दु:ख उत्पन्न होता है। कुछ ऐसी दोनों तरह की बात विदित होने से इस देह को उभय शब्द से कह लीजिए कि यह उभय है, कुछ निमित्तरूपसा भी नजर आता है, कुछ आश्रयभूतसा भी विदित होता है। तो ऐसे इस देह के निमित्त से व्यवहार बनाया जाय तो उस दृष्टि में आत्मा कैसा नजर आता है? यह आत्मा शरीर के कारण परतंत्र और दु:खी है।

संसार में जीव की परतन्त्रता व दु:खभाजनता की नजर— यह जीव परतंत्र तो ऐसा है कि जब शरीर के कारण यह दु:खी हो होकर ऊब जाता है झल्लाता है तो और बातों में तो इसकी हठ चल सकती है कि इस चीज को फेंक दें, अलग कर दें, इसकी ओर से मुख फेर लें इससे सम्बन्ध ही न रखें, किन्तु देह के लिए क्या करें? इस देह के कारण हम दु:खी होते जा रहे हैं और उस दु:ख में हम झल्ला भी जायें तो इसे कहाँ फेंक दें? हम इस देह से कैसे अलग हो पायें? इस देह के कारण ही तो भूख, प्यास, ठंडी, गर्मी, सम्मान, अपमान आदिक के सभी दु:ख हो रहे हैं। लोग चाहते हैं कि इस दुनिया में मेरा नाम हो। मैं, मेरा शब्द से इसने क्या सोच रखा? क्या चैतन्यमात्र भावात्मक पदार्थ? उसकी तो किसी को खबर ही नहीं और उसका

पता हो तो फिर यहाँ मैं मैं, मेरा मेरा कौन करे? यह तो यों सोचता है कि ऐसी फोटो वाला मैं, इस मेरे की इज्जत हो। और इसी मिथ्या आशय में उस इज्जत के बढ़ाने के उपाय भी किया करते हैं। इस मुझ का लोग फोटो खींचे, इसका नाम जपें। वे अक्षर ही तो हैं। किसी ढंग से जोड़ दिए गए। तो इस जीव को नाम से और इस देह के आकार से, फोटो से इतना लगाव हो गया कि उसे मान लिया कि यही मैं हूँ और सोचते हैं कि इस मेरे की इज्जत हो। तो आप देख लीजिए कि सम्मान का और अपमान का, कल्पना का, विकार का, चिन्ता का, शोक का आदि जितने भी दु:ख हैं वे सब इस देह के सम्बन्ध से हैं। तो जिस देह के सम्बन्ध से हम पर दु:ख का पहाड़ सा पड़ा है उस देह को हम झल्लाकर भी कहाँ फेंक दें? इतना निकट सम्बन्ध बन रहा है, ऐसे निकट सम्बन्धी इस उभय आश्रय निमित्तरूप इस देह के कारण यह आत्मा परतंत्र है और दु:खी है।

उभयसम्बन्धकव्यवहारनय में प्राप्त अवगम से ग्राह्य शिक्षा— उक्त दृष्टि में जो हमने समझा उससे शिक्षा क्या मिलती है? यह शिक्षा मिलती है कि इस देह को हम कहीं फेंक तो सकते नहीं। धन वैभव आदिक बाह्य पदार्थों की भाँति इसके क्षेत्र का त्याग तो कर सकते नहीं। यह तो रहेगा चिपकेगा और मरण भी हो जायेगा या कोई आत्महत्या भी कर ले तो भी देह से छुटकारा न मिलेगा। यह देह छूटेगा नया देह मिलेगा। तो देह से छुटकारा होने का उपाय झल्लाना नहीं है, किन्तु ज्ञान है, भेदविज्ञान है, विवेक है। यों समझिये कि भारों से हटकर अपने आपमें आकर इस शरीर से निपट लेने की बात है। तो कम से कम इतना तो ध्यान में आना ही चाहिए कि यह देह मैं नहीं हूँ। निकट सम्बन्ध है तो भी देह जड़ है, मैं चेतन हूँ। देह का भिन्न सत्त्व है। यह पुद्गल में है। मैं चेतन हूँ। अपने आपके चैतन्यस्वरूप में हूँ। इस भेदविज्ञान को बढायें। इस भेदप्रतिभास को सुदृढ़ करें तो यह उपाय बन सकेगा जिससे कि हम समस्त दु:खों के कारणभूत इस शरीर से भी मुक्त हो सकेंगे। यह उभयसम्बन्धक व्यवहार की बात कही गई है।

उपचरित असद्भूतव्यवहारनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से आत्मा का परिचय किया जा रहा है। उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से आत्मा के विषय में कह सकते हैं कि यह जीव राग, विरोध और मोह से परेशान है। यहाँ व्यवहारनय से मतलब है किसी दूसरी चीज को जोड़कर के कथन करना और असद्भूत से मतलब है कि जो आत्मा के गुण में सद्भूत नहीं है और उपचरित का अर्थ है किसी परपदार्थ का नाम लेकर उसका कथन करना। तो यहाँ असद्भूत है रागद्वेषमोह भाव, क्योंकि ये आत्मा में गुण के स्वयं विलास नहीं हैं, ये विकारभाव हैं और जो विकार है वह असद्भूत तत्त्व कहा जाता है। उसका यहाँ कथन किया गया है और स्पष्ट है, ग्रहण में आता है, ऐसे भावों का नाम लेकर उपचार किया गया तो इस दृष्टि में आत्मा परिचित होता है कि यह रागविरोध और मोह से परेशान है।

जीव का स्वरूप और विकार का रूप— जीव का जो स्वरूप है वह है चैतन्य। और चैतन्य का जो परिणमन है वह होगा जाननदेखन रूप। अब इसके अतिरिक्त जो रागद्वेषविकल्प के परिणमन होते हैं वे जीव में गुण में नहीं पाये जा रहे, किन्तु जीव की इस स्वच्छता के कारण ये रागद्वेषादिक परिणमन हो रहे हैं। जैसे दर्पण में दर्पण की सत्ता के कारण दर्पण में स्वच्छता है। अब उस स्वच्छता के प्रताप से उस दर्पण में बाहरी चीज का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो वह प्रतिबिम्ब दर्पण में सद्‌भूत नहीं है, असद्‌भूत है, क्योंकि दर्पण में स्वच्छता का गुण है। उसके प्रताप से ही किसी वजह से यह प्रतिबिम्ब आ गया है तो प्रतिबिम्ब जैसे दर्पण में असद्‌भूत है, वह परद्रव्य से आया है ऐसे ही जीव में रागद्वेषमोह के परिणाम असद्‌भूत है, क्योंकि जीव का स्वरूप है चैतन्य और इस चैतन्य का विलास है जानना देखना, पर जहाँ चैतन्य है वहाँ चैतन्य के बल पर रागविरोध हो सका है। जिन पदार्थों में चैतन्य नहीं है वहाँ तो रागद्वेषमोह नहीं हो पाते। जैसे पुद्‌गल, धर्म आदिक द्रव्य। यदि वहाँ विवेक करके देखा जाय तो विकारभाव असद्‌भूत हैं, उनका उपचार करके कथन किया है। तो यहाँ आत्मा मोह से परेशान है, ऐसा परिचय प्राप्त हो रहा है।

उपचरित असद्‌भूतव्यवहारनय के अवगम से प्राप्त शिक्षा और प्रेरणा— इस दृष्टि से हमको यह शिक्षा मिलती है कि रागविरोध असद्‌भूत हैं। उसके रूप नहीं हैं। हे आत्मन् ! तू यदि अपनी सच्चाई चाहता है, अपनी पवित्रता चाहता है, जो केवल्य तेरे में है वही मात्र हो, ऐसी यदि तेरी रुचि है तो तू रागद्वेषमोहभाव का लगाव छोड़ दे, क्योंकि ये असद्‌भूत हैं और इन असद्‌भूतों से केवल तेरी बरबादी है, लाभ कुछ नहीं मिलता। तू तो अनादि अनन्त है, तीनों काल रहने वाला है। रागविरोध ये तो किसी मिनट के काम हैं। भले ही अज्ञान से ये रागविरोध चलते रहते हैं, मगर कोई भी परिणमन कुछ सेकेंड का काम है। दूसरा आता रहता है। कुछ सेकेण्ड की असावधानी में तेरे में विकार-परम्परा बढ़ती है और संसार में रुलना बढ़ता है। तू तो उन विकारों से रहित केवल चैतन्यमात्र है, अपने स्वरूप को तो देख। क्यों उपचरित असद्‌भूत में अपना लगाव रख रहा है? इस नय से अपना तथ्य विदित हुआ। इससे यह शिक्षा मिलती है और आत्मा के कैवल्यस्वरूप में पहुँचने की प्रेरणा मिलती है।

अनुपचरित असद्‌भूतव्यवहारनय में आत्मपरिचय का प्रकार और शिक्षा— अब अनुपचरित असद्‌भूतव्यवहारनय से आत्मपरिचय किया जा रहा है। असद्‌भूतव्यवहारनय की बात जो पहिले थी वही यहाँ है। जो रागादिक विकार हैं वे असद्‌भूत हैं, किन्तु जो ऐसे रागादिक विकार हैं कि जिनका वेदन नहीं होता है, जिनका अबुद्धि पूर्वक राग चल रहा है। अथवा जिनका क्षोभ प्रकट नहीं होता ऐसे विकार अनुपचरित असद्‌भूत कहलाते हैं। जैसे श्रेणियों में रहने वाले शुद्धसमाधि में रहने वाले जीवों के रागादिक विकारों का क्षोभ नहीं है। मत हो क्षोभ, और क्षोभ न होने के कारण उनका उपचार भी नहीं किया जा पाता, फिर भी जहाँ तक विभाव हैं, वहाँ तक तो विकार है, असद्‌भूत है। ऐसे अनुपचरित असद्‌भूत विकार का जो व्यवहार है वह कहलाता है

अनुपचरित असद्भूतव्यवहार। इस दृष्टि में हमको यह शिक्षा मिलती है कि भले ही कोई भी विकार अनुपचरित हो, जिसका कि क्षोभ परिणमन भी व्यक्त नहीं हो पाता, किन्तु विकार होने के कारण अन्त: जो उन अंशों में बरबादी ही है। जैसे लोक में कहते हैं कि शत्रु का कुछ भी रह जाना भले के लिए नहीं है, ऐसे ही यहाँ सोचिए अपने अन्दर में कि मेरा बैरी रागद्वेषभाव है। इस रागद्वेषभाव का अंश भी रह जाना इस आत्मा के लिए भला नहीं है। और अंश रह जाना तो भले के लिए क्या होगा, जहाँ राग का दब जाना भी, जिस उपशम से यह जीव अन्तर्मुहूर्त में उपशान्तमोह गुणस्थान वाला बन जाता है, जहाँ वीतराग छद्मस्थ है, इतनी तक महिमा प्रकट हो जाती है। ऐसा दबा हुआ भी राग जीव के लिए घातक हो जाता है। तो हम इस रागविरोधभाव को भी अपने लिए हानिकारक जानकर यह निर्णय रखें कि इससे भी मुक्त होने में अपनी भलाई है।

उपचरित सद्भूतव्यवहारनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब उपचरित सद्भूतव्यवहारनय से आत्मा का परिचय करते हैं सद्भूत कहते हैं उसे कि जो आत्मा में शक्ति है, गुण है, उसका विकास होना, उस गुण के अनुरूप पर्याय प्रकट होना सो सद्भूत है। आत्मा में ज्ञानगुण है और ज्ञानगुण की पर्यायें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये 5 प्रसिद्ध हैं। इन पर्यायों में मतिज्ञानी होना, श्रुतज्ञानी होना आदिक पर्यायें उपचरित हैं। इनका ग्रहण होता, इनका प्रतिपादन होता, समझाना होता, इस कारण इनका उपचार हो जाता है। तो इस उपचार से इसे उपचरित सद्भूत कहते हैं। इस नय में आत्मा कैसा है? तो यह कहा जायगा कि आत्मा मतिज्ञानी है, श्रुतज्ञानी है, स्वपर का ज्ञाता है, ये सब कथन उपचरित सद्भूत व्यवहार में है, क्योंकि कथन करने के लिए कोई अवसर तो मिला। यह जीव इस पदार्थ का जानने वाला है तो पदार्थ का नाम लेकर जानने की बात को बताने का सहारा तो मिला, इस कारण यह उपचरित है। मतिज्ञान क्या? जो इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है। इस मतिज्ञान के कथन करने में साधन की मुख्यता का अवसर तो मिला, इस कारण यह उपचरित सद्भूत व्यवहार की दृष्टि से आत्मा को मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, स्वपर का ज्ञाता आदिक कहा जाता है।

उपचरित सद्भूतव्यवहारनय से प्राप्त निष्कर्ष— इस नय में हम यह निष्कर्ष पाते हैं कि आत्मा का अनुपचरित रूप से तो एक जाननस्वभाव है। इसी आत्मस्वभाव का ये उपचरित मतिज्ञानादिक अभिनन्दन करते हैं। सहजस्वततत्त्व की ओर से देखा जाय तो जाननमात्र का क्या स्वरूप है? स्वरूप होते हुए भी हम बता नहीं सकते। स्वयं किसी पदार्थ का नाम लेकर या किसी अन्य साधन आदिक की बात कहकर हम उसे बता सकेंगे। केवल ज्ञान में क्या ज्ञात होता है, इसको भी केवल जाननपरिणति की ओर से कुछ नहीं बताया जा सकता। समझाते हैं तब यह कहकर कि तीन लोक तीनकालवर्ती समस्त पदार्थों का जो जाननहार है सो केवलज्ञान है। जैसे शुद्ध परिणमन को भी हम किसी पर का सहारा लेकर ही समझा पाते हैं। वही उपचरित

अंश है लेकिन केवलज्ञान भी सद्भूत है, अन्य ज्ञानविलास भी सद्भूत हैं। उनके कथन करने को उपचरित सद्भूतव्यवहारनय कहते हैं। आत्मा स्वयं सहज अपने आपमें कैसा है, किस रूप बर्त रहा है? यह बात तो एक निर्विकल्प है और समझने समझाने के क्षेत्र से बाहर की बात है। जितना समझने समझाने का अवसर है वह सब उपचरित है।

अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय से आत्मपरिचय का प्रकार— अब अनुपचरित सद्भूतव्यवहार से आत्मा का परिचय बताते हैं। यों कहना कि आत्मा ज्ञानगुण वाला है, बस ज्ञानशक्तिमय है। सहज ज्ञानानन्दस्वरूप है। यह सब किसी पर का सहारा लिए बिना कहा गया है, इस कारण अनुपचरित है और आत्मा में जो सहजतत्त्व मौजूद है उसका कथन है, इस कारण सद्भूत व्यवहार है। आत्मा सहजज्ञान, सहजआनन्द, सहजदर्शन आदिक अनन्त गुण वाला है। तो सहजशक्तिमय है इस प्रकार का व्यवहार करना, कथन करना यह अनुपचरित सद्भूतव्यवहार है। जीव का सही परिचय अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय से मिलता है। इसका यद्यपि विशेष विश्लेषण नहीं किया जा सकता, लेकिन जो अनुभवी पुरुष हैं, जिन्होंने कर्मों के क्षय, क्षयोपशम आदिक के कारण अपने आपमें अपने स्वरूप का परिचय पाया है अथवा ऐसे पुरुष ज्ञानावरण के विशेष क्षयोपशम से इस स्वरूप के परिचय पाने के निकट हैं वे कोई शब्दों में भी समझ पाते हैं। आत्मा सहज ज्ञानमय है, इसका परिचय करने वाले सुगमतया समझ लेते हैं। जैसे जिसने मिश्री खायी हो, उसको कोई कहे कि मिश्री मीठी है तो इस तथ्य को वह पूरे रूप से समझ लेता है। उसमें वह शंका नहीं करता और न यह विचार करता कि कैसी मीठी? जैसे जिस वस्तु का जिसने कभी स्वाद न लिया, उसे मीठा शब्द से कहा जाय तो उसके चित्त में पूरी बात नहीं बैठती। कैसा मीठा? लेकिन जिसने स्वाद का अनुभव कर लिया उसको उसके सिद्धान्त का पूर्णपरिचय हो जाता है। यों उपचरित सद्भूत से आत्मा का सही परिचय कराया जाता है। आत्मा सहज ज्ञानमय है। जो अनादि से है, अनन्तकाल तक है। जिसमें किसी पर का आश्रय नहीं, पर का सहाय नहीं, अपने सत्त्व के कारण है, ऐसे स्वरूप की रुचि में आत्मा की बात समझना है, समझाना है यह कहलाता है अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय।

द्रव्यार्थिकनय व पर्यायार्थिकनय की विधि से आत्मपरिचय कराने का उद्यम— यहाँ तक अध्यात्मपद्धति से निश्चय और व्यवहारनय से आत्मा का कैसे परिचय मिलता है? इसका वर्णन किया। अब सैद्धान्तिकदृष्टि से द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से वर्णन करेंगे जिसमें द्रव्यार्थिकनय 10 प्रकार के हैं। द्रव्यार्थिकनय उसे कहते हैं कि जिस दृष्टि का प्रयोजन केवल द्रव्य हो। द्रव्य एक सामान्य होता, अभेद होता। द्रव्यार्थिकनय को शीघ्र समझने के लिए दो तत्त्वों को ध्यान में रखते रहो- सामान्य और अभेद। जो सामान्य की ओर मुड़ा हुआ कथन है वह द्रव्यार्थिकनय कथन का है या अभेद की ओर हो रहा हुआ जो कथन है वह द्रव्यार्थिकनय का कथन है। यों तो करणानुयोग के शास्त्रों में संक्षेप का और विस्तार का नाम भी द्रव्यार्थिक

और पर्यायार्थिक रखा है। कोई बात साधारण शब्दों में समझायी जा रही है तो उसे कहेंगे कि यह द्रव्यार्थिकनय से कथन किया और उसी चीज को जब विश्लेषण सहित जुदे-जुदे लक्षण सहित बताया जाता है तो उसे कहते हैं— यह पर्यायार्थिकनय से कथन है। जैसे जहाँ यह कहा कि ज्ञान 5 प्रकार का है यह एक सूत्र बनाया, इसके बाद दूसरा सूत्र बनाया तो उसमें नाम बताने लगे— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। अथवा ज्ञानावरण का पहिला सूत्र बनाया कि ज्ञानावरण 5 प्रकार के हैं। पहिला सूत्र बन गया। इसके बाद सूत्र बनाया ज्ञानावरण के नाम लेकर— मतिज्ञानावरणीय, ज्ञुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मन:पर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय। तो वहाँ टीका में एक शंका उठायी गई कि पहिले सूत्र में ही कह दिया कि ज्ञान या ज्ञानावरण 5 प्रकार का है, उससे ही सब विदित हो गए, फिर यह दूसरा क्यों कहा जा रहा? तो उत्तर दिया कि पहिला सूत्र द्रव्यार्थिकनय से कहा— अब यहाँ द्रव्य और पर्याय की क्या बात है? वहाँ दृष्टि रखी है जो संक्षेप कथन है। वह द्रव्यार्थिक जैसा है जो विस्तार का कथन है वह पर्यायार्थिक जैसा है। दूसरी बात संक्षेप का जो कथन है वह अभेद से सम्बंधित है। विस्तार का जो कथन है वह भेद से सम्बंधित है। तो लो अब अभेद और भेद से सम्बन्ध होने के कारण द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का विवेक स्पष्ट हो गया। जो संक्षेप का कथन है वह सामान्य कथन है, जो विस्तार का कथन है वह विशेष कथन है। तो लो- ये सामान्य और विशेष की दृष्टि से द्रव्य और पर्याय आ गया। सीधा द्रव्य और पर्याय तो नहीं आया, पर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय की जो पद्धतियाँ हैं, जो उनका माध्यम है वह पद्धति और माध्यम उस प्रसंग में आ गया। तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय की बात समझने के लिए सामान्य अभेद को द्रव्यार्थिकनय के साथ जोड़ना और विशेष एवं भेद को पर्यायार्थिकनय के साथ जोड़ना।

परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय में आत्मपरिचय— द्रव्यार्थिकनय के 10 भेदों में प्रथम भेद है परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय। इस नय की दृष्टि से आत्मा का किस प्रकार का परिचय मिलता है, उसे इन शब्दों में कहा जायेगा कि आत्मा चैतन्यस्वभाव है। इस द्रव्यार्थिकनय का नाम है परमभाव ग्राहक द्रव्यार्थिकनय जिस दृष्टि में अभेद और सामान्य विषय हो। जो अभेद और सामान्य होता है वह सीमारहित होता है। उसमें काल की, क्षेत्र की, किसी भी अपेक्षा की सीमा नहीं है। तो आत्मा में जो चैतन्यस्वभाव है, परमभाव है उसमें भी कोई सीमा नहीं है। जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव- ये चार बातें होती हैं। द्रव्य के मायने व्यक्ति, जैसे कि एक जीव यह है, एक जीव यह है, इस तरह से भिन्न-भिन्न जीवों को देखना, यह है एक द्रव्यदृष्टि। क्षेत्रदृष्टि— जो जीव जितने क्षेत्र को रोके हुए है, जिस जीव का जितने क्षेत्र में अवगाह है, फैलाव है, उस क्षेत्र की मुख्यता से निरखना, यह है क्षेत्र से निरखना। कालदृष्टि— यह जीव इस समय किस रूप परिणम रहा है, इसमें क्या पर्याय बीत रही है, उस पर्याय को बताना, उस परिणमन को बताना कालदृष्टि है। भावदृष्टि— आत्मा में क्या भाव है, उनके अविभाग, प्रतिच्छेद, गुणांश ये सब भावदृष्टि में आते हैं। तो आत्मा में जो चैतन्यस्वभाव है, जिसका

अनुभव करने से आत्मानुभव होता है वह चैतन्यस्वभाव व्यक्तिरूप देखने में विदित न होगा। जब जीव जीव को हम व्यक्तिश: अलग देखेंगे तो हमें क्या दिखेगा? चैतन्यस्वभाव दृष्टि में नहीं आता। जब हम चैतन्यस्वभाव को देखते हैं तो हमारी दृष्टि में व्यक्ति न रहेगा, चैतन्यप्रकाश भी बाहर न रहेगा कि जिसका लक्ष्य करके हम ज्ञान कर रहे हों, किन्तु वह अपने आपके चैतन्यस्वभाव के अनुभवरूप बन जायेगा। अब परख लो कि चैतन्यस्वभाव में व्यक्ति की सीमा न रही। इसी को एकान्त से लेकर कुछ लोगों ने एक ब्रह्म चिन्मात्र सर्वव्यापक मान लिया है। अगर चैतन्यस्वभाव पर ही दृष्टि रखें तो यह बात उनकी बहुत प्राय: तथ्यरूप है। चैतन्यस्वभाव वह एक है लेकिन इससे भी बढ़कर बात यह है कि चैतन्यस्वभाव एक भी नहीं है अनेक भी नहीं है। चैतन्यस्वभाव तो अनेक है ही नहीं, यह तो दोनों दार्शनिकों ने मान लिया, पर जैनसिद्धान्त यह कहता है कि यदि चैतन्यस्वभाव को तथा चैतन्यस्वरूप को देख रहे हैं तो उसे एक कहकर सीमा में बांधना भी उचित नहीं है। वह तो एक अनेक सर्वप्रकार के संकल्प विकल्प जालों से परे है। तो इतनी भी जहाँ सीमा नहीं है कि उसे एक भी कह सकेंगे क्या? एक भी कहें तो व्यक्ति का रूप आ जायेगा। एक, अकेला एक अवयव कोई व्यक्ति तो होगा, यह तो व्यक्ति नहीं है, यह तो चैतन्यस्वभाव है सो यह चिन्मात्र स्वभाव एक अनेक के विकल्प से परे है। अब आप सोचिये कि जो द्रव्य की सीमा में नहीं, क्षेत्र की सीमा में नहीं वह कैसा अनुपम तत्त्व होगा? जैसे कि हम किसी जीव को चार पाँच फिट कि विस्तार में देखते हैं। इसी तरह के विस्तार में हम क्या चैतन्यस्वभाव को देखें तो क्या परख सकेंगे? वह क्षेत्र की सीमा से परे है। क्षेत्ररूप से चैतन्यस्वभाव को निरखा नहीं जा सकता। इसी प्रकार जैसे हम किसी को क्रोधी, मानी आदिक रूप में देखते हैं उस तरह से हम किसी परिणति में चैतन्यस्वभाव को देख सकेंगे क्या? अब जब हम प्रभु के केवलज्ञान को भी देखते हैं तो वहाँ भी चैतन्यस्वभाव उपयोग में नहीं रहता। एक परिणमन है। तो जो काल की सीमा से भी परे है। भाव और अंशों के बन्धन से भी निराला है, ऐसे चैतन्यस्वभाव को हम परमभाव कैसे न कहेंगे, उसे परमभाव ही कहेंगे। ऐसे परमभाव चैतन्यस्वभाव का ग्रहण करने वाला नय परमभावग्राहक कहलाता है और यह चूंकि द्रव्यरूप है, सामान्य है, अभेद है इस कारण यह नय द्रव्यार्थिकनय कहलाता है। तो यों परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय में आत्मा चैतन्यस्वभावमात्र परिचित होता है।

भेदकल्पनानिरपेक्ष द्रव्यार्थिकनय में आत्मपरिचय का प्रकार— जब आत्मा को द्रव्यदृष्टि से देखा जा रहा हो और ऐसी प्रखर द्रव्यदृष्टि से कि जहाँ भेदकल्पना भी नहीं उठती हो ऐसे आशय में आत्मा का परिचय किस प्रकार से होता है? अब उसका वर्णन चलेगा। इस आशय का नाम है भेदकल्पनानिरपेक्षद्रव्यार्थिकनय। जिस नय में भेद की कोई कल्पना नहीं उठ रही है, यह गुण है, यह पर्याय है, इस प्रकार का कोई भेद न उठता हो, ऐसा केवल एक द्रव्य को ही देखने का जहाँ प्रयोजन है उस आशय को कहते हैं भेदकल्पनानिरपेक्षद्रव्यार्थिकनय। इस नय में आत्मा गुणपर्यायों से अभिन्न दिखता है। देखो— किसी सीमा में

कितने ही भेद हो जाते हैं। समुद्र के किनारे खड़े होकर कोई व्यक्ति सारे समुद्र को कुछ भेद बनाये बिना किसी एक ढंग में देख रहा है, वहाँ लहरें उठ रही हैं, नहीं उठ रही हैं, कम उठती हैं, कितना महान है आदि कुछ भी कल्पनायें न करके एक समुद्र को तक रहा है, इस तरह से निरख रहा है। कोई व्यक्ति उस समुद्र के एक कोने को, अंश को, लहरों को, सफाई मलिनता सब तरह से थोड़ा थोड़ा विचार करते हुए निरख रहा है, तो किसी वस्तु को निरखने की यहाँ दो विधियाँ होती हैं- अभेदरूप में निरखना और भेदरूप में निरखना। तो जब भेदकल्पनारहित केवल द्रव्यदृष्टि से देखा जा रहा है वहाँ आत्मा गुणपर्यायों से अभिन्न दिखता है। जो नय भेदकल्पनायें उठाया करते हैं उन नयों से भी शिक्षा मिलती है, किन्तु भेदकल्पना वाले नय स्वानुभव में पहुँचाने के लिए परम्परा साधन है और भेदकल्पनानिरपेक्ष अभेद को तकने वाला नय आत्मानुभव में पहुँचाने के लिए निकटतम साधन है।

हितार्थी को प्रत्येक नयों से शिक्षालाभ— भैया ! विश्लेषण करके देख लो, कोई भी नय फाल्तू नहीं है। सभी नयों से शिक्षा ली जाती है। देखिये सब कुछ कहकर थक कर अन्त में एक नय कहा करते हैं- उपचरितोपचरितनय। जिसको वस्तुत: नयकोटि में नहीं रख सकते। कोई पूछे कि यह घर मकान मेरा है, यह किस नय से कहा? तो कहा जायेगा कि उपचरितोपचरित असद्भूतव्यवहारनय से। इसका मतलब क्या कि पहिले तो असद्भूत घर, मकान इसका है नहीं और फिर घर, वैभव, मकान, इसका है, यह बात एक झूठे आशय को रखने वाले नय से कही गई। फायदा वहाँ भी आशय के अवगम से मिला। तो जितने नय हैं उन सब नयों से अगर हम हितार्थी हैं तो शिक्षा पा सकते हैं और अगर हम हितार्थी नहीं हैं तो हम द्रव्यार्थिकनय की चर्चा करके भी लाभ नहीं उठा सकते। तो यहाँ उस द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में तका जा रहा है जहाँ भेदकल्पना नहीं है खैर देखते जावो, तृप्त रहो, आनन्द मानो, वहाँ भेदकल्पना नहीं उठती। इस नय में गुणपर्यायों से अभिन्न आत्मा निरखने में आता है। जहाँ देखा क्या? एक चैतन्यमात्र आत्मा नजर आता है।

भेदकल्पनानिरपेक्षनय में अवगृहीत तत्त्व का चयन— भेदकल्पनानिरपेक्ष द्रव्यार्थिकनय के कथन से पहिले परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय की बात कही थी। विषय दोनों का एक है। परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय में भी चैतन्यस्वभाव आत्मा नजर आया और भेदकल्पना निरपेक्ष द्रव्यार्थिकनय में भी वही चिन्मात्र आत्मा नजर में आया, लेकिन विधि में अन्तर आ गया। वहाँ परमभाव से ग्रहण करने की पद्धति से नय था और यहाँ भेदकल्पना कुछ भी न उठे फिर ग्रहण में आया? क्या ग्रहण में आया इसकी मुख्यता नहीं है, पर भेदकल्पना निरपेक्ष होकर द्रव्य ज्ञान में आया, सो यह है भेदकल्पनानिरपेक्ष द्रव्यार्थिकनय। जैसे यों भी लौकिक बातों में कहा करते हैं कि किसी सुख देने वाली वस्तु के उपयोग के समय, स्वादिष्ट भोजन करने के समय बातें बहुत उठती हैं। क्या भोजन है? कितना घी पड़ा है, कितनी शक्कर है, खूब सिका है, ताजा है आदिक बहुत से विकल्प उठते हैं और उनकी जानकारी बनती है, मगर एक स्थिति ऐसी आती है कि उस भोजन को कर

रहे हैं और उस भोजन की पहिली स्थितियों की बातों का जब कुछ भी विचार नहीं चलता और केवल उस रस के स्वाद में ही मग्नता है तो उस रसस्वाद में ही मग्न हो रहे हुए पुरुष में उस समय उसके भेदकल्पना नहीं रहती कि कितना घी पड़ा, कैसा सिका आदि। यह तो उसके आशय में नहीं है। यदि यह भी आशय में रहे तो स्वाद का पूरा आनन्द न आयेगा, उसे स्वादलीन न कहा जायेगा। यों ही सर्व बातों से भी परे होकर केवल अन्तस्तत्त्व में मग्न होना, जिसे कहते हैं कि सब कुछ फेंकफांक कर टन्नाकर रह जाना, जिसमें कोई तरंग की बात भी न उठे ऐसी स्थिति होती है भेदकल्पना निरपेक्ष। और आत्मा के सम्बन्ध में जब यह स्थिति बनती है तब वहाँ गुणपर्यायों से अभिन्न जैसा जो कुछ है वही दिखता है।

णवि होदि अप्पमत्तो जाणभो हु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव।।

भेदकल्पनानिरपेक्ष द्रव्यार्थिकनय के विषय की एक झलक— भेदकल्पनानिरपेक्ष द्रव्यार्थिकनय व परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय के रहस्य को समयसार की इस गाथा में बताया गया है। जब पूछा गया कि वह एकत्वविभक्त आत्मा क्या है? एकत्वविभक्त अर्थ है अपने आपके स्वरूप में रहने वाला समस्त परस्वरूप से जुदा, वह आत्मतत्त्व सहज कैसा है? तो कहना पड़ा कि वह न कषायसहित है, न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है, किन्तु वह ज्ञायकभाव मात्र है। देखिये— पहिली पंक्ति से तो परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय की झलक आयी, लेकिन जब दूसरी पंक्ति में कहते हैं एवं भणंति शुद्ध, वह कैसा शुद्ध है, उसको ऋषिजन कैसा शुद्ध कहते हैं? तब यह बताने के लिए कोई शब्द नहीं रहा, क्योंकि अब भेदकल्पनानिरपेक्ष विधि में आ गये तो कहना यह पड़ा कि वह तो जो जाना गया सो ही है। जो ज्ञात हुआ वह वही है। यहाँ कहने को कोई शब्द नहीं रहे। तो इस गाथा में पहिले तो परमभाव ग्राहक की बात कही, फिर भेदकल्पना निरपेक्ष की बात कही। यह आशय और यह झलक उन भव्य पुरुषों के चित्त में बैठती है जिन्होंने इसका अनुभव किया है, परिचय प्राप्त किया है। वे शीघ्र ही इस ओर आ जाते हैं कि भेदकल्पनानिरपेक्ष द्रव्यार्थिकनय से यह समझा गया।

स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब कुछ भेद की ओर आते हैं तो उन भेदों में जो सबसे पहिले भेद में आना होता है उस समय की ज्ञानी की प्रथम स्थिति को बताते हैं। उसे कहेंगे स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय। अभी तक यह जीव, यह भव्य ज्ञानी पुरुष भेदकल्पनानिरपेक्ष स्थिति में था, अब जब यह भेद में आता है तो प्रथम ही प्रथम भेद हुआ करते हैं तो वे दोनों होंगे अनेक नहीं। किसी भी अखण्ड चीज के भेद में जब आप आयेंगे तो दो ही देखेंगे। एक चीज के टुकड़े किये तो दो हो जायेंगे। एक

अखण्ड आत्मतत्त्व का भेद करेंगे तो वहाँ दो धारायें बन जायेंगी। वे दो धारायें सर्वप्रथम क्या बनती हैं? स्व और पर। जिनमें यह विदित होगा कि स्व के रूप से तो आत्मा है और पर के रूप से आत्मा नहीं है। ये दोनों बातें हैं आत्मा की ही बात। अपने चतुष्टय से आत्मा है और परचतुष्टय से आत्मा नहीं है। परिचय आत्मा का मिला, बात एक ही आत्मा की कही गई। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नहीं है। इन दो धाराओं में विध्यात्मक धारा अतिनिकट की धारा है जिसमें कुछ ग्रहण की गई विधि की बात कही गई तो भेद उठने की प्रारम्भिक स्थिति में ज्ञानी के स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय का आशय बनता है। इस आशय में आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है।

भेद के उत्थापन के दो प्रयोजन— देखिये एक तो निर्णय के लिए भेद उठता है। वह तो प्रशंसनीय है और एक अज्ञान में चलने के लिए भेद उठता है वह हेय है। अज्ञानी जीवों की क्या स्थिति होती है? इसको भी समयसार कलश की अंतिम कलशों में बताया है कि आत्मत्व तो यद्यपि अद्वैत है, फिर भी पहिले तो द्वैत की बुद्धि होती है वह स्व पर के भेद की है। जैसे ब्रह्मद्वैतवादियों ने कहा है- एकोहं बहु स्याम्। मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, तो यह क्या बात कही? द्वैत की बात कही। तो इस प्रकार इस आत्मा में सर्वप्रथम द्वैतभाव जगता है। बस यह द्वैतभाव जगना अज्ञानीजनों के लिए विडम्बना का कारण बन जाता है। पर्यायों को आत्मा मानना, फिर दो का अद्वैत किया, फिर तो रागद्वेष का परिग्रह लगा, उससे सारी विडम्बनायें हुई। लो फिर तो अविवेक बढ़ता ही जाता है और उसके फल में संसार में रुलना होता है, किन्तु निर्णय की दृष्टि से भेद का करना एक सावधानी का प्रयास है।

वस्तुपरिचय का प्रकार स्वचतुष्टयावगम— यहाँ देखा जा रहा है स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय से। इस नय में आत्मा का परिचय किस प्रकार होता है? यह आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है। उसमें भेद किए चार। पदार्थों के जानने का उपाय यह चतुष्टय ही है। हम एक पेटी को जान रहे हैं तो पेटी एक व्यक्ति है जो कि सत् है, यह जाना जा रहा। इसकी लम्बाई, चौड़ाई फैलाव इसमें है, ये जाने जा रहे है, इसका रूप, परिणति, मलिनता, स्वच्छता, कमजोरी, सकल ये भी जाने जा रहे हैं और उसका भाव, उसकी शक्ति ये भी जाने जा रहे हैं। तो पदार्थ का परिचय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से होता है। तो आत्मा का भी परिचय यहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से किया जाता है। 'यह मैं' जिसके लिए कहा गया वह तो है स्वद्रव्य और यह मैं जितने फैलाव में हूँ, जितने विस्तार में अवगाह है, अनुभवन चलता है वह प्रदेश विस्तार क्षेत्र है और इसकी जो परिणति है वह है काल और इसमें जो शक्तियाँ, भाव हैं, वे भाव कहलाते हैं। आत्मा का परिचय भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से होता है। और यह भी समझियेगा कि जितने दार्शनिकों ने वस्तुस्वरूप के प्रदर्शन में गल्ती की, जिन-जिन दर्शनों में त्रुटियाँ हुई वे सब त्रुटियाँ केवल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में से किसी का ग्रहण करना, किसी की उपेक्षा करना, किसी का किसी में समन्वय करना आदिक इन त्रुटियों से ही हुआ।

प्रत्येक स्खलन में आपको माध्यम यही मिलेगा कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा बनाने में गल्ती की है। पदार्थ का परिचय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से होता है। सो यहाँ भी आत्मा को अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से निरखा जाता है।

पर द्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय में आत्मपरिचय का प्रकार— स्वरूप परखने की दूसरी धारा है परद्रव्य की ओर से देखना, इसे कहेंगे परद्रव्यग्राहक द्रव्यार्थिकनय। आत्मा को छोड़कर अन्य समस्त पर हैं। कितने हैं वे सब द्रव्य? अनन्तानन्त जीव एक मुझ जीव को छोड़कर अनन्तानन्त समस्त जीव परद्रव्य हैं। समस्त पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य। ये सभी के सभी परद्रव्य हैं, उनका चतुष्टय उनमें है, उनका स्व वे स्वयं हैं, उनके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से मैं नहीं हूँ। इस आशय में निज सत्ता की स्वतंत्रता जाहिर हुई। मैं सत् हूँ और यह मैं सत् अपने सहायपर हूँ, किसी दूसरे के सहायपर नहीं हूँ। जब मैं सत् हूँ तो उत्पाद व्यय भी मुझमें मेरे सहाय पर चल रहे हैं। किसी दूसरे पदार्थ के सहाय पर मेरे में उत्पाद व्यय नहीं चलता। संसार में है अज्ञानियों का झमेला। यहाँ अज्ञानी जीवों ने समझ रखा है कि मेरा जो यह बिगाड़ हुआ, मेरी जो हानि हुई, सो इस आत्मा की करतूत से पहुँची। उसने सिद्धान्त को तज दिया। मेरा उत्पाद व्यय, मेरी समस्त परिणतियाँ मेरे सहायपर ही हैं, किसी पर के सहायपर नहीं हैं। भले ही देखने में यह लग रहा हो कि मृदंग बजाने वाला पुरुष कितनी तेजी से अंगुलियाँ चलाता है और उसके अनुरूप ही इस मृदंग से आवाज निकलती है। इतना बदल बदलकर अंगुलियाँ चलाता है कि जिसका बयान करना अशक्य है और ठीक उसी रूप आवाज निकलती है, इतने पर भी मृदंग की आवाज की परिणति उस अंगुली की सहाय से नहीं हुई। भले ही वह निमित्त है और ऐसा हुए बिना आवाज नहीं हो सकती ऐसा अन्वयव्यतिरेक सम्बंध भी है, फिर भी वह जो परिणति हुई है आवाज की, उस परिणति में अंगुलियों ने क्या किया? उस निमित्त सन्निधान में उस मृदंग के आश्रय में भाषावर्गणाओं की व्यक्ति हुई है, तो परिणति केसी पर से सहाय से नहीं हुई। निमित्त अवश्य है। तो जहाँ इतनी स्वतंत्रता है वहाँ उस स्वतंत्रता का भान जब नहीं है तो जीव की आकुलतायें हो जाती है। जब परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय से निर्णय कर लिया गया कि मैं परपदार्थ के द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से नहीं हूँ तो उसको फिर क्षोभ आने का अवसर नहीं रहता। आया भी क्षोभ तो आया और गया। उसे संस्कार में बनाकर नहीं रख सकता।

परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय में अपने मनन की रीति— मैं परद्रव्य से नहीं हूँ अर्थात् स्त्री पुत्रादिक जिन्हें मान रखा है वे परद्रव्य हैं और वे मैं नहीं हूँ। यह शरीर भी मैं नहीं हूँ। जिस शरीर में आज हम बंधे पड़े हैं वह शरीर भी मैं नहीं हूँ। यह बात हमें ''परद्रव्य से मैं नहीं हूँ'' इस कथन से सीखने को मिलती है। मैं परक्षेत्र से नहीं हूँ। लोग जिससे प्रीति करते हैं वे अपने और पर के क्षेत्र को भूल जाते हैं और पार्थक्य उनकी दृष्टि में नहीं रहता। यद्यपि एक का दूसरे क्षेत्र में मिलन नहीं होता। आज तक इतने देह पाये और

एकक्षेत्रावगाही रहे, देह में अणु अणु में, आत्मा के प्रति प्रदेश में कोई न कोई अणु ये मौजूद रहे, एकक्षेत्रावगाह रहे, इतना घुलमिलकर रहने वाला देह तक मेरा न बन सका। देह पाये और छोड़े। आज जो देह पाया वह भी छूट जायगा। तो एक का दूसरे क्षेत्र में अवगाह नहीं, लेकिन मोहीजन अपने रागमोह के आवेश में आकर इस तथ्य को भूल जाते हैं। परद्रव्य, क्षेत्र से मैं नहीं हूँ, इससे हमें बड़ी भिन्नता की शिक्षा मिलती है। मेरा कहीं कुछ नहीं है। कल्पना से मान लिया, मेरा यह घर है, वैभव है, मेरे ये लोग हैं, पर हैं कहाँ? तू अपने क्षेत्र में है, वे सब अपने प्रदेश में हैं। परकाल से मैं नहीं हूँ अर्थात् परपदार्थों की जो परिणतियाँ हैं उन परिणतियों से मैं नहीं हूँ, पर परिणतियों से मेरी परिणति नहीं। कोई बलवान पुरुष किसी का हाथ मरोड़ दे, हाथ मरुड़ गया और व्यवहार में यही कहा जायेगा कि इस बलवान पुरुष ने हाथ पकड़ कर मरोड़ दिया, लेकिन जब स्वतंत्रता की ओर से देखते हैं तो बलवान पुरुष ने जो कुछ किया, उसने अपने अंग में किया। अपने हाथ की अंगुलियों से बाहर उसकी कोई क्रिया नहीं चल सकी, किन्तु निमित्त सन्निधान इस ढंग का था कि ऐसी क्रिया परिणत हाथ का निमित्त पाकर उस बीच पड़े हुए दूसरे पुरुष का हाथ भी क्रियाशील हो गया, मरुड गया तो जब स्वातंत्र्य की ओर से देखते हैं तो यह विदित होता है कि प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक परिस्थितियों में अपनी परिणति से ही परिणमता है, दूसरे की परिणति से नहीं परिणमता। तो जब इस ढंग से देखा अपने आत्मा को कि मैं परकाल से नहीं हूँ, तो इसमें बहुत बड़ा निर्णय कर लिया गया। अब इसको किसी परपदार्थ के बिगाड़ सुधार की किसी परिणति को देखकर क्षोभ नहीं आना चाहिए। मैं अपनी ही परिणति से परिणमता हूँ। दूसरे का मुझमें कुछ नहीं है। मैं दुःखरूप परिणम रहा हूँ तो कोई मेरे में ही गलती है जिससे कि मैं दुःखी हो रहा हूँ। दूसरे की गल्ती से मैं दुःखी नहीं होता। मैं परभाव से नहीं हूँ, दूसरे की शक्ति से, दूसरे के भाव से मेरी सत्ता नहीं है। मैं अपने स्वभाव से हूँ, अपनी शक्ति से, अपने ही गुणों से हूँ, दूसरे से नहीं हूँ। जब यह दृष्टि में आता है तो वहाँ भेदविज्ञान का स्पष्टरूप सामने आता है। तो परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय ने भेदविज्ञान की पुष्टि की। मैं पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नहीं हूँ।

परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय से प्राप्त शिक्षा और प्रेरणा— भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय में आये हुए पुरुष के जब भेद उत्पन्न होता है तो सर्वप्रथम स्वपर का भेद हुआ और उस भेद के अवगम से यह बात उसने शिक्षा में लिया मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से हूँ, पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से मैं नहीं हूँ। देखिये इस जीवन में वास्तविक काम में आने वाली चीज अपने आपके स्वरूप का परिचय है। बाकी तो सब अंधकार है। जिस घर में जो पैदा हो गया वह उसे ही अपना सर्वस्व समझता है, मगर इन भव से पहिले यह सब इसका कुछ था क्या? इस भव के बाद कुछ रहेगा क्या? और यह भव भी कितने समय का है और इस भव में भी हमें किसे क्या दिखाना है? ये दिखने वाले लोग कोई सत्य की मूर्ति हैं क्या? मेरी ही तरह माया की मूर्ति हैं। यहाँ तथ्य कुछ नहीं है तो हो क्या रहा है? असार में असार बात की लपेट लगाकर यह

मैं स्वयं असार बन रहा हूँ। तो यह सब अनित्य का झमेला है, यह भव भी अनित्य है, यह समागम भी अनित्य है। इसमें जो उपयोग बसाया जा रहा है वह भी अनित्य है और इस अनित्य के फंसाव में जो कुछ चाहा जा रहा है वह भी अनित्य है। तो यह सब मेल अनित्य अनित्य का हो रहा है। इसमें तथ्य और हित की बात कुछ नहीं है। मैं समस्त पर से निराला हूँ और अपने आपमें हूँ- इस प्रकार की दृष्टि से हम कल्याण का उपाय पा सकते हैं।

अन्वयद्रव्यार्थिकनय में आत्मपरिचय का प्रकार— जब अन्वय की मुख्यता करके द्रव्य दृष्टि से देखा जा रहा हो, यह द्रव्य समस्त पर्यायों में रहता है, समस्त पर्यायों में अनुगत है, इस प्रकार के अन्वय की मुख्यता से जब द्रव्यनय से परख की जा रही हो तब वहाँ आत्मा इस प्रकार विदित होता है कि यह अपनी गुणपर्यायों में अन्वयरूप से रहने वाला एक अद्वैत है। अतीत और भविष्यत् तथा वर्तमान की अनन्तानंत पर्यायों में द्रव्य वही है एक। यों समस्तपर्यायों में वही का वही द्रव्य है, दूसरा नहीं है। वह एक है, दूसरा नहीं है इस कारण अद्वैत है और समस्त पर्यायों में अनुगत है, इस कारण अन्वयरूप है। इस दृष्टि में आत्मतत्त्व की विशालता जानी जा रही है अन्वय और स्वभाव की परख हो रही है। जब स्वभावरूप से देखा जायेगा तभी अन्वय विदित होगा। सब अवस्थाओं में वही जीव है जो चैतन्यस्वभाव वाला है, वही का वही है। यों इस अन्वय द्रव्यार्थिकनय में सुगमतया स्वभावपर दृष्टि पहुँचती है और स्वभाव की मुख्यता से निरखने पर इस जीव का मोह रागद्वेष कष्ट दूर होता है और मोह रागद्वेष से छुटकारा पा लेने में ही इस जीव का कल्याण है।

उत्पादव्यय गौणसत्ताग्राहक द्रव्यार्थिकनय से आत्मपरिचय का प्रकार— अब ऐसे द्रव्यार्थिकनय से परख कीजिये कि जहाँ उत्पाद और व्यय की अपेक्षा न रहे। वस्तु में उत्पादव्यय ध्रौव्य ये तीनों समग्ररूप से अंश हैं, अर्थात् वस्तु में जो उत्पाव्ययध्रौव्य धर्म है वह इस प्रकार नहीं है कि वस्तु के किसी हिस्से में उत्पाद हो, किसी में व्यय और किसी में ध्रौव्य हो, किन्तु वह पूरा का ही पूरा पदार्थ उत्पादरूप है, व्ययरूप है और ध्रौव्यरूप है। उनमें से उत्पादव्यय को जब गौण कर दिया जाता है और ध्रौव्य की मुख्यता रखकर सत्ता को ग्रहण किया जाता है अथवा उत्पादव्ययध्रौव्य– इन तीनों को ही गौण करके केवल सत्त्व को ही निरखा जा रहा है। यद्यपि सत्त्व उत्पाद व्ययध्रौव्य से अलग नहीं है। कोई भी सत्त्व उत्पाद व्यय-ध्रौव्य से रहित नहीं होता, फिर भी दृष्टि में ऐसी कला है कि जिस तत्त्व की ओर यह दृष्टि मुड़ती है उस दृष्टि में वही तत्त्व दिखता है। भेदपरक और अभेदपरक दृष्टि बनने की दृष्टि में कला है। किसी भी पदार्थ को हम भेदविश्लेषण करते हुए भी निरख सकते है और भेदविश्लेषण किए बिना भी निरख सकते हैं। जब केवल शुद्धद्रव्य को देखा, केवल सन्मात्र को देखा, जहाँ उत्पाद व्यय में गौणता हुई वहाँ यह आत्मा किस प्रकार विदित होता है? सो देखिये। यह है उत्पादव्यय गौणसत्ताग्राहक द्रव्यार्थिकनय। इस नय में आत्मा शाश्वत नित्य है, यों विदित होता है। आत्मा सदा काल रहता है और नित्य है। शाश्वत और नित्य– इन दो शब्दों में कोई मोटे रूप से कोई अन्तर नहीं, लेकिन

सूक्ष्मता से देखा जाय तो यह अन्तर है कि नित्य शब्द में परिणमन की धुन छायी हुई है। नित्य का अर्थ है जो नित नित क्षण में बना रहे, परिणमता रहे, उसका नाम नित्य है। जिसके परिणमन का कभी व्यय न हो उसे भी नित्य कहते हैं। बना रहे, चलता रहे, परिणमता रहे, इस धारा का कभी विच्छेद नहीं होता, इस आशय में भी नित्य शब्द का प्रयोग होता है, पर शाश्वत् शब्द कहकर नित्यता का, परिणमन का, विकास का, विलास का कोई अभिप्राय नहीं रहता। तो यह आत्मा शाश्वत नित्य है। यहाँ जिस उत्पाद व्यय को गौण किया गया है इस नय में उसकी भी धुन गौणरूप से रही। गौण का अर्थ अभाव नहीं होता। अगर अभाव कर दिया गया होता तो उसकी धुन लाने की जरूरत न थी, किन्तु इस आशय में उत्पाद व्यय को तो गौण किया है और सत्ता को मुख्य किया है। उसे ग्रहण करने वाले द्रव्यार्थिकनय में यह आत्मा शाश्वत नित्य विदित होता है।

उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक द्रव्यार्थिकनय के अवगम से प्राप्त शिक्षा व प्रेरणा— मैं आत्मा शाश्वत नित्य हूँ, तब फिर मिले हुए समागमों में लगाव रखने में हित नहीं है। जैसे कोई मुसाफिर किसी रास्ते से चला जा रहा है तो रास्ते में अनेक वृक्ष मिलते हैं, उनकी छाया भी पड़ती जाती है, तो अनेक वृक्ष मिले, उन वृक्षों से वह मुसाफिर लगाव नहीं रखता है, अगर लगाव रखे कि यह वृक्ष बड़ा सुन्दर है, इसको छोड़कर तो मैं जाऊँगा ही नहीं, रह जाऊँ, तो फिर वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकता। तो जैसे रास्ते में अनेक वृक्ष मिलते हैं तो उनका मिलना अध्रुव है, सदा नहीं है, आया और चला गया, इसी प्रकार इस जीव की यात्रा में जितने भी जहाँ जो समागम मिलते हैं वे सब अध्रुव है, उनको पकड़कर जो रह गया, वह कल्याण नहीं पा सकता और उनका जो ज्ञाता रह करके बढ़ता जाता है, ज्ञाता द्रष्टा रहता है कि यह भी देख लिया, यह भी देख लिया, वह अपने कल्याण का पात्र है। तो आत्मा को शाश्वत नित्य तकने से मोह रागद्वेष से छुटकारा पा लेने का अवसर प्राप्त होता है।

कर्मोपाधिनिरपेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय से आत्मपरिचय का प्रकार— अब ऐसे द्रव्यार्थिकनय से आत्मा को तकना है कि जहाँ देखा तो जायगा यही संसारी जीव, हम सब अपने आपकी बात निरखेंगे, लेकिन कर्मउपाधि की अपेक्षा न रखकर निरखेंगे। देखेंगे अपने आपको, मगर उपाधि के बिना स्वयं अपने आपमें जो अन्तस्तत्त्व है, जैसी शक्ति है, जैसी योग्यता है, जो हम बन सकते हैं देखेंगे उस रूप में, तो ऐसे आशय में हम आपका संसारी आत्मा किस प्रकार से नजर आता है, यह बात बताते हैं। संसारी आत्मा को देखा जा रहा है और देखा जा रहा है कर्मउपाधि के बिना। सो देखा तो अशुद्ध द्रव्य को, मगर कर्मउपाधि के बिना देखा, ऐसे आशय को कहते हैं कर्मोपाधिनिरपेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय। इस नय में निरपेक्षपर्याय की मुख्यता से देखा जा रहा है याने वर्तमान पर्याय को ग्रहण न करके हम भविष्य में कर्म उपाधि के बिना जिस पर्याय में रह सकते हैं उस पर्याय को दृष्टि में रखकर देखा जा रहा है। यहाँ यह ध्यान रखना— पर्यायरूप में पदार्थ

को देखने का नाम है अशुद्ध द्रव्य का देखना। चाहे शुद्ध पर्याय में देखा जाय उसका भी नाम अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। जहाँ पर्याय को जोड़ा वहाँ द्रव्य में अशुद्धता आयी। अशुद्धता का अर्थ यहाँ मलिनता न करना, किन्तु दूसरे को जोड़ देना, इसका नाम भी अशुद्ध है। तो इस नय में यों नजर आता है कि संसारी आत्मा सिद्ध समान शुद्ध आत्मा है। संसारी आत्मा, हम आपकी बात चल रही है और देखा जा रहा है भविष्य में हो सकने वाली उस पर्याय को, जो कर्मोपाधि के बिना हो सकता है, तब यह दृष्टिगत हुआ कि यह सिद्ध समान शुद्ध आत्मा है। इस नय में हमको यह शिक्षा मिलती है कि मैं ऐसा हो सकने योग्य हूँ। क्यों अपनी असावधानी करके अपनी बरबादी की जा रही है, एक उपयोग द्वारा अपने को संभाल लेने भर की बात है, अन्य किसी तत्त्व से तो इसका प्रयोजन है नहीं। तो उस अवस्था में एक ऐसी प्रेरणा जगती है कि में क्यों बकरियों में पड़े हुए शेर की तरह अपने को कायर समझूँ? मुझमें तो ऐसी योग्यता है, यह प्रेरणा इस कर्मोपाधिनिरपेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय से मिलती है।

कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब इस ही अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय को जब कर्मोपाधि की अपेक्षा से तका जाय तो उस समय आत्मा का परिचय किस प्रकार मिलता है, यह बात बताते हैं। यह आत्मा कर्म के निमित्त से उत्पन्न होने वाले रागादिक भावों रूप है। यों चर्चा भी होती है, कहा भी है, सिद्धान्त भी है, ऐसा कह करके यह खोजना चाहिए कि यह किस नय से कहा गया है? विवाद जब कभी हो जाता है तो वक्ता कह रहा है किसी नय से और श्रोता किसी नय से अर्थ लगा रहा है तो वहाँ विवाद हो जाता है। कभी कभी तो छल का प्रयोग होता है। छलप्रयोग उसे कहते हैं कि उलाहना देने वाला पुरुष भी समझता रहता है कि यह भाई इस दृष्टि से यह कह रहे हैं, किन्तु उसका विरोध बताकर उसको लज्जित करना मात्र प्रयोजन रह जाता है, इसे कहते हैं छलप्रयोग। जैसे कोई साधारण गरीब पुरुष किसी भी प्रकार थोड़ा बहुत कमाकर एक नया कम्बल खरीद लाया। उसे ओढ़कर वह कई आदमियों के बीच बैठ गया। उनमें से कोई व्यक्ति बोल उठा कि यह देखो नवकम्बल वाला आया। उसका आशय था नये कम्बल वाले से, पर उसके विरोध में कोई दूसरा व्यक्ति जानबूझकर भी गप्प में बोल उठा कि कहाँ नौ कम्बल वाला आया? उसके पास तो एक ही कम्बल है। तो यह है छलप्रयोग। तो आजकल आध्यात्मिक चर्चाओं के प्रसंग में लोग छलप्रयोग भी कर सकते हैं, और जानकारी से भी विरुद्ध बोल सकते हैं। विवेक इसमें है कि जो कोई भी कुछ कहे उसके कथन में नय को पकड़ना चाहिए कि यह किस दृष्टि से कहा जा रहा है? जब अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय को कर्मोपाधिसापेक्ष बनाया जाता है उस समय में आत्मा का परिचय यों होता है कि यह आत्मा कर्म के निमित्त से होने वाले रागादिकभावरूप है।

कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय के अवगम से प्राप्त शिक्षा व प्रेरणा— यह आत्मा कर्मविपाकनिमित्त से उत्पन्न होने वाले रागादिकभावोंरूप है। इसमें कितने ही सिद्धान्त आये हैं तथा हितकारी शिक्षा प्राप्त होती है।

आत्मा रागादिकभावोंरूप परिणम रहा है। यहाँ डबल अशुद्धता की बात कही जा रही है। पर्याय को द्रव्य में जोड़ना पहिली अशुद्धता तो यही है। द्रव्य को द्रव्यरूप में उपस्थित करने का नाम शुद्धता है और उसे पर्याय के साथ जोड़कर बताने का नाम अशुद्धता है, फिर मलिन पर्याय को ही जोड़ा जा रहा है, इसलिए यह प्रकट अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। और इसमें कर्मोपाधि की अपेक्षा की बात बतायी जा रही है। इस नय में हमको यह बात शिक्षा में मिलती है कि हम रागादिकभावोंरूप परिणम तो रहे हैं, लेकिन यह परिणमन कर्मोदय का निमित्त पाकर हो रहा है। आत्मा के स्वरूप में, स्वभाव में, शील में विभावरूप परिणमन की बात नहीं पड़ी हुई है। जब अपने आपकी भीतरी असलियत का पता पड़ता है तब तक ऐसी ठसक उत्पन्न होती है कि जिसके बल पर अशुद्धता के वातावरण को यह खत्म कर सकता है। जैसे किसी पुरुष को यह पता पड़ जाय कि मेरे मकान में इस कमरे में घन का हंडा गड़ा हुआ है, तो वह यद्यपि अभी गड़ा ही है, उसका उपयोग भी नहीं हो पा रहा है, लेकिन भाव में यह बात आ जाने से उसकी उसे ठसक होती है और उसके व्यवहार में प्रसन्नता भी रहती है। तो ऐसे ही जब जीव को यह विदित हो जाता है कि भले ही मैं रागद्वेष वाला हो रहा हूँ लेकिन ऐसा होना मेरे में शील नहीं है। यह कर्मों का निमित्त पाकर हो रहा है, तो उसे भीतर में एक ऐसा बल प्राप्त होता है कि जिस बल पर वह यथाशीघ्र कर्मों का क्षय भी कर लेगा।

भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब एक ऐसे अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय की चर्चा कर रहे हैं, जिसके सम्बन्ध में समयसार में बताया है कि इस जीव को हम इतना भी अशुद्ध न तकें कि इसमें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, ऐसे इस अखण्ड आत्मा में ज्ञानादिक का भेद भी न करें। अगर तकते हैं तो वह भी एक अशुद्धता कहलायेगी। याने बंध के कारण से जीव में जो अशुद्धता कही गई है, वह तो कही ही गई है, उसकी बात तो दूर रही, वह तो स्पष्ट अशुद्धता है, लेकिन आत्मा के सम्बन्ध में इतना भी निरखना कि इसमें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, ऐसा निरखने वाले ने भी जीव को अशुद्ध वर्णित कर डाला। यहाँ शुद्ध का अर्थ है, केवल शुद्धता मायने कैवल्य। अभेदरूप में निरखने का नाम शुद्ध है। तो जब इस ही आत्मद्रव्य को उसके ही अनुरूप भेदकल्पनायें करके निरखा जाता है तो वहाँ विदित होता है कि यह आत्मा ज्ञान, शक्ति, दर्शन, आनन्द, चारित्र आदिक अनेक गुण वाला है। जैसे किसी बड़ी संगीत सभा में बड़े अच्छे ढंग से संगीत चल रहा हो और उस ही बीच में कोई उस लय से बाहर (प्रतिकूल) एक भी ताली बजा दे तो उस संगीतज्ञ को बड़ी ठेस पहुँचती है, इसी प्रकार समझिये कि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्य को देखने के प्रसंग से, उसकी वह शुद्ध द्रव्य की दृष्टि, उसका नय यह सब कुछ चल रहा था, ठीक चल रहा था, उस ही बीच में यदि कोई इतनी भी अशुद्धता की बात कहे कि इसमें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, तो वह उस कैवल्यदृष्टि से ओझल हो गया, जहाँ केवल एक अभेद को ही लखा जा रहा था। तो अब यह अशुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि हो

गयी और इसमें भेदकल्पना की अपेक्षा रखी गई। तो भेदकल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय से आत्मा कैसा है? ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक अनन्त गुण वाला है।

भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय से प्राप्त कर्तव्यशिक्षा— भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय ने हमारी एक यह आँख खोली कि अरे भाई ! तुम अपने आपमें सहज स्वयं स्वरूप को निरखना चाहते हो तो उसमें भेदकल्पना भी मत करो। भेदकल्पना तो एक उपाय है पहिली सीढ़ियाँ हैं, स्वरूप नहीं हैं। आत्मस्वरूप कैसा है? उसमें यह भेद नहीं पड़ा है कि इसमें ज्ञान भी है, आनन्द भी है। उनका अंशरूप आत्मा नहीं है। वह तो एक अखण्ड अभेद निर्विकल्प है। उसके समझाने के लिए यह सब भेद डाला गया है। तो इस नय से हमको यह प्रेरणा मिलती है कि हम अन्तस्तत्त्व को भेदकल्पनानिरपेक्ष पद्धति से देखेंगे तो हम आत्मानुभूति के अत्यन्त निकट पहुँचे हुए हैं और भेदकल्पना से अगर देखते हैं तो अभी कुछ अन्तर में हैं। हम कुछ परम्परा के निकट पहुँचे हुए हैं। भेदव्यवहार एक उपाय है वस्तु के जानने का, परवस्तु के अनुभवने का उसका कुछ स्वाद लेने का उपाय भेदकल्पना नहीं है, किन्तु अभेद पद्धति से उसका परिज्ञान करना है। इस प्रसंग में समयसार में दो गाथायें आयी हैं। पहिली गाथा में तो यह बताया हैं कि शुद्ध आत्मा कैसा है? वह ज्ञानमात्र है, प्रमत्त नहीं है, जो जाना गया वही मात्र है। तब एक जिज्ञासा यह हुई- तो क्या उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं है? क्या वह ज्ञानदर्शन चारित्रवान होने से अशुद्ध नहीं है? तो उत्तर में यह कहा गया कि यह सब व्यवहार से ही उपदेश किया जाता है कि आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, किन्तु परमार्थत: न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है, किन्तु वह तो जैसा चैतन्यस्वरूप है वही मात्र है। यहाँ यह इस कर्तव्य की शिक्षा लेनी चाहिये कि भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्य से भी हटकर निरपेक्ष केवल एक शुद्धस्वभाव की निरख में आना चाहिए।

उत्पादव्ययसापेक्ष द्रव्यार्थिकनय में आत्मपरिचय का प्रकार— पदार्थों के सम्बंध में यह धर्म विदित हो रहा है कि प्रत्येक पदार्थ प्रति समय किसी अवस्था से उत्पन्न होता है और किसी अवस्था के रूप से नष्ट होता है और यह उत्पाद व्यय पदार्थों में निरन्तर चलता रहता है। अभी स्थूल उत्पादव्यय के भेद स्पष्ट समझ में आते हैं। कभी सूक्ष्मरूप से उत्पादव्यय की बात कुछ देर में समझ में आती है, लेकिन युक्ति से यह सिद्ध है कि प्रतिसमय यदि उत्पाद व्यय नहीं है तो एक मिनट में भी नहीं और वर्षों में भी न हो सकेगा। वस्तु में उत्पाद व्यय निरन्तर चलता रहता है, जब और सूक्ष्मदृष्टि से देखते हैं तो अगुरुलघुत्व गुण के निमित्त से जो षड्गुण हानिवृद्धि होती है उस रूप में तो उत्पाद व्यय सहज ही है। तो यों प्रत्येक पदार्थ प्रति समय उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। आत्मा के सम्बन्ध में भी यही बात स्पष्ट है कि कभी किसी भावरूप में आया और पुराना भाव इसका नष्ट हो गया। क्रोध कषाय में आया तो उसकी पहिली कषाय विलीन हो गयी। अब क्रोध कषाय के बाद मान में आया अथवा माया लोभ में आया तो नवीन कषायरूप में उत्पाद हो गया और पहिली कषाय

के रूप में व्यय हो गया। यों उत्पादव्यय आत्मा में भी निरन्तर चलता है। जब व्यञ्जनपर्याय के रूप से देखते हैं तो आज यह मनुष्य है और मनुष्यभव के बाद देवपर्याय में जायेगा तो देवपर्याय का उत्पाद होगा और मनुष्यपर्याय का व्यय होगा। यों आकार में वे उत्पाद व्यय दोनों निरन्तर चलते रहते हैं। यह तो हुई एक स्थूलरूप से आकारभेद की बात, पर एक ही भव में शरीर में कभी कमी होती है, कभी बेशी होती है। बच्चे का देह छोटा है, जवान का देह (उसी पुरुष का) बड़ा है। तो तब जिस देह में जितने प्रमाण में था उस समय आकार उस प्रमाण में था। अब बड़ा हो गया तो देहप्रमाण आत्मा का आकार हो गया। यह भी एक मोटी सी बात है, पर आत्मा का, अणुओं का देह प्रवेश और निर्गमन होते रहने के कारण प्रतिसमय कुछ न कुछ न्यूनता, अधिकता होती रहती है। वहाँ आत्मा का आकार भी बदलता रहता है। तो यों हर एक दृष्टि में पदार्थों में परिणमन प्रतिसमय होता है। आत्मा में भी उत्पाद व्यय निरन्तर चलता है, ऐसा कहा भी है, सिद्धान्त भी है कि आत्मा प्रतिसमय उत्पाद व्यय वाला है और जब उत्पाद व्यय है तो साथ में ध्रौव्य भी लगा हुआ है। आत्मा प्रतिसमय उत्पादव्यय ध्रौव्य वाला है, यह प्रक्रिया निरन्तर बनी रहती है। इस प्रकार से आत्मा का जो परिचय होता है वह परिचय है उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में। द्रव्य को देखा मगर पर्याय से भिड़ाकर देखा अतएव वह अशुद्धद्रव्य का वर्णन कहलाता है और यह अशुद्धता निरखी गई उत्पाद व्यय ध्रौव्य अंशों को कहकर अतएव उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला आत्मा है। इस प्रकार का कथन उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय में होता है।

अनादिनित्य पर्यायार्थिकनय में आत्मपरिचय का प्रकार— इस प्रसंग में अब तक द्रव्यार्थिकनय के 10 प्रकारों में आत्म का परिचय कराया गया, अब पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से आत्मा का परिचय कराते हैं। इस पद्धति में पर्यायार्थिकनय के 6 भेद हैं, जिनमें प्रथम भेद है अनादि नित्यपर्यायार्थिकनय। वस्तु को पर्यायदृष्टि से देखा और ऐसी पर्याय को देखा कि जो अनादिकाल से चली आ रही है और सदैव चलती रहेगी। यद्यपि ऐसी कोई पर्याय नहीं होती कि जो कई समयों में वही बनी रहे, फिर भी यदि किसी पर्याय की धारा अनादि से अनन्तकाल तक चलती है तो जिस प्रकार का परिणमन अनादि अनन्त तक चलता रहता है, उस जाति का उल्लंघन नहीं करते हैं तो उस पर्याय को अनादिअनन्त पर्याय कह सकते हैं। जैसे आत्मा के विषय में सोचना कि अभव्य आत्मा और दूरातिदूर भव्य आत्मा के मिथ्यात्व आदिक पर्यायें नित्य हैं। अभव्य जीव है, उसके मिथ्यात्व पर्याय अनादिकाल से चली आ रही है। विशिष्ट विशिष्ट परिणमन की दृष्टि से तो प्रतिसमय मिथ्यात्व-मिथ्यात्व पर्याय बन रही है। और जो पूर्वसमय की मिथ्यात्वपर्याय है वह उत्तर समय की नहीं है, फिर भी मिथ्यात्व तो मिथ्यात्व ही है। जितना उसके मोहभाव चला अनादि से अनन्त काल तक तो मोह का जो स्वरूप है उसका उल्लंघन करके नहीं चला। यों वह मिथ्यात्वपर्याय अनादि अनन्त है। जिसका निष्कर्षरूप में यह अर्थ है कि अभव्य जीव अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि है और अनन्तकाल तक मिथ्यादृष्टि

रहेगा। उसकी मिथ्यात्वपर्याय कभी भी विलीन न होगी। मिथ्यात्वपर्याय मिटकर सम्यक्त्वपर्याय आये, ऐसा कभी भी अभव्य जीव के न हो सकेगा। यह उसका निष्कर्षरूप अर्थ है।

अभव्य की भाँति दूरातिदूरभव्य के मिथ्यात्वपर्याय की भी अनादिता व अनन्तता— अनादि अनन्त मिथ्यात्वपर्याय दूरातिदूरभव्य की भी है। जैसे मोटे रूप में कल्पना कीजिए कि भव्यजीव संसार से मुक्त हो रहा है तो क्या कभी ऐसा भी समय आयगा कि जिस समय कोई जीव मुक्त रहने के लिए न रहे, अर्थात् सभी भव्य मुक्त हो जायें, अब कोई भव्य ऐसा नहीं रहा जो संसार में रहे? ऐसी स्थिति संसार में न आयगी। कैसे न आयगी? उसका प्रथम प्रमाण तो यह है कि आज भी यह स्थिति नहीं है। अब से अतीतकाल में अनन्तकाल व्यतीत हो गया, ऐसा ही अनन्तकाल व्यतीत होगा तो अब तक अनन्तकाल में स्थिति नहीं आयी कि संसार में कोई भव्यजीव न रहे, सब मुक्त हो चुके। जब यह स्थिति अब तक नहीं आयी तो आगे भी न आयगी, इस सम्बन्ध में एक दृष्टि और देनी है कि भव्यजीवों की संख्या सिद्धजीवों से अनन्तगुणी है। और अभव्यों की संख्या सिद्धों के अनन्तवें भाग है, तो अभव्य से कितने ही अनन्तगुणे भव्यजीव हैं। ये भव्य जीव अनंतानन्त निगोदराशि में पड़े हैं। वहाँ से ये निकलते है, व्यवहाररूप में आते हैं और जैसा सुयोग मिल पाता है वे मुक्त हो जाते हैं। तो ऐसे भव्यजीवों के मुक्त होने की धारा रहने पर भी सदैव अनन्तजीव संसार में संसारी भव्य पाये जायेंगे। तो उनमें जो दूरतिदूरभव्य हैं अर्थात् प्रकृतिस्वभाव में तो भव्य हैं पर कभी भी उन्हें रत्नत्रय की प्राप्ति न होगी, ऐसे दूरानुदूरभव्य की मिथ्यात्वपर्याय भी अनादि अनन्त है तो यों अभव्यजीवों व दूरातिदूरभव्य की मिथ्यात्वपर्याय अनादिअनन्त है, यों निरखना अनादि नित्यपर्यायार्थिकनय की दृष्टि में हाता है।

सादिनित्य पर्यायार्थिकनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब आत्मा को उस पर्याय में निरखना कि जिसकी आदि तो है पर अन्त नहीं है। जो अनन्तकाल तक रहेगा उस पर्याय को निरखना, यों आत्मा का निरखना सादिनित्यपर्यायार्थिकनय से कहलायेगा। जो पर्याय ऐसी है कि हुई है, आदि है, किसी समय हुई, मगर सदैव रहेगी, कभी भी वह पर्याय न मिटेगी। जैसे आत्मा की शुद्धपर्याय सादि नित्य है, प्रत्येक आत्मा चाहे वे अब से अनन्तकाल पहिले सिद्ध हो गए हों वे भी पहिले संसारी थे और जब संसारी थे तो कर्मक्षय से ही वे मुक्त हो सके, यों मोक्ष सादि हो गया। यह सादिकी बात एक ऐसे रहस्य को लिए है कि अनेक दार्शनिकों की समझ में नहीं आती, सो उनकी कल्पना में यह आया कि आखिर संसार कभी तो बना होगा। अब इतने बड़े संसार को बनाने वाला कौन हो सकता है? तो आखिर यह कल्पना में आया कि कोई एक अलौकिक शक्ति है जो हम लोगों में नहीं पायी जाती है। बस उस अलौकिक शक्ति को एक महत्त्व का रूप दिया, प्रभुता का रूप दिया, और यह बात प्रसिद्ध हो गई कि किसी एक ईश्वर ने इस संसार को रचा है। ये सब बातें वस्तु

की अनादिकता के विदित न होने से घटित हुई हैं। वे इस वस्तु स्वरूप को भूल गये कि असत् का उत्पाद होता ही नहीं है।

सिद्धपर्याय की सादि— अनादि है संसार और मोक्ष भी अनादि है, लेकिन संसार और मोक्ष में युक्ति बताती है कि कम से कम 8-9 वर्ष का अन्तर तो होना ही चाहिए। कोई भी जीव मोक्ष जायेगा तो मनुष्यभव से जायगा और मनुष्यपर्याय पाकर भी जल्दी से जल्दी मुक्त होता तो 8 वर्ष से पहिले मुक्त नहीं हो सकता। 8 वर्ष की आयु का बालक भी शुद्ध भगवान बन सकता है। इससे पहिले नहीं, और इससे पहिले तो सम्यक्त्व की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। तो युक्ति बताती है कि मोक्ष से संसार 8 वर्ष बाद होना चाहिए, लेकिन अब पुन: दृष्टिपात कीजिए कि ऐसा वह कौनसा समय था कि जिस समय से पहले संसार 8 वर्षों से अधिक रहा, तब मोक्ष का साथ न रहा। केवल संसार ही संसार था। ऐसा कोई समय मुकर्रर कैसे करेगा? अनादि में आदि की बात क्या कही जा सकती है? संसारी जीव ही मोक्ष जा रहे हैं, फिर भी संसार भी अनादि है और मोक्ष भी अनादि है, लेकिन कर्मक्षयपूर्वक ही मुक्ति होती है। इस कारण किसी एक विशिष्ट व्यक्तिगत जीव के बारे में सोचा जाय तो उन सिद्ध जीवों का सिद्धपर्याय सादि है। जब अष्टकर्मों का क्षय हुआ तब उनके सिद्धपर्याय प्रकट हुई। सिद्धपर्याय होने के बाद यह सिद्धपर्याय कब तक रहेगी? इसका कभी अन्त नहीं है, अनन्तकाल तक रहेगी। यह बात कही जा रही है स्थूल पर्यायदृष्टि से। सूक्ष्मदृष्टि से तो स्वभावपरिणमन होने पर भी यहाँ भी सिद्धपर्याय विशुद्ध होने पर भी प्रति समय में नवीन नवीन परिणमन ही होता रहता है। वह सब सदृश परिणमन है। इस वजह से वहाँ भेद जाहिर नहीं होता और इस कारण लगता है कि यह शुद्धपर्याय अनन्त काल तक वही की वही है। तो स्थूलपर्यायदृष्टि से शुद्धपर्यायधारा अनादि है, अनन्त है। शुद्धपर्याय की धारा कभी न मिटेगी।

मोक्ष की अनन्तता— किसी जीव का अभिमत है कि यह जीव कर्मों के क्षय से मुक्त हो जाता है, पर मुक्त बने रहने की बहुत अवधि होने पर भी आखिर उसकी है तो अवधि। अनेक कल्पकाल व्यतीत हो जाने के बाद कोई सदाशिव नाम का एक सदामुक्त ईश्वर है। उसका भाव हुआ कि वे मुक्त पर्याय से हट जाते हैं और उन्हें संसार में आना पड़ता है, लेकिन वस्तुस्वरूप की दृष्टि से सोचा जाय तो यह बात सत्य नहीं विदित होती। जीव संसारी होता किस प्रकार है? उसके रागद्वेष, कषायें, जन्म, मरण ये सभी बातें चलें उसका नाम तो संसार है। तो यह संसार परिणमन मलिन परिणामों के कारण होता है और मलिन परिणाम होते हैं नैमित्तिक। यदि मलिनता जीव का नैमित्तिक परिणमन न हो तो वह स्वभाव परिणमन बन बैठेगा और फिर आत्मा का कोई स्वभाव शाश्वत न कहलायेगा, यों आत्मवस्तु भी न रहेगा। सो समझिये कि रागादिक भाव ये कर्म के उदय का निमित्त पाकर हुए हैं। जिस जीव के समस्त कर्मों का सम्बन्ध सम्पूर्णतया मूलत: क्षय हो चुका, अब वहाँ कौनसी गुंजाइश रही कि वह मलिन बन जाय और संसार में रुलने लगे? आत्मा शुद्ध होकर

फिर अशुद्ध नहीं होता, क्योंकि अशुद्धता का वहाँ कोई कारण नहीं। पुद्गल में तो यह बात देखी जाती है कि पुद्गल परमाणु शुद्ध होकर भी अशुद्ध हो जाते हैं। एक बार अणु-अणु रह गया, एकप्रदेशी रह गया, फिर भी वह थोड़े समय बाद स्कंधरूप में आ सकता है। क्यों आ सकता है? क्यों आ जाता कि अणु और अणुओं का बंधन, उनके स्निग्धत्व रूक्षत्व गुण के कारण होता है। उन स्निग्धत्व रूक्षत्व गुणों में डिग्रियों का घटते बढ़ते जाना उसके स्वभाव में पड़ा है। तो योग मिलता है कि अणु अशुद्ध बन जायेंगे, लेकिन आत्मा में ऐसा योग कभी नहीं आ सकता कि आत्मा शुद्ध होकर फिर वहाँ अशुद्धता का कारण बन जाय, क्योंकि जीव की अशुद्धता के कारण में निमित्त होता है पुद्गलकर्म का उदय। सो कर्मक्षय हो चुका है फिर कभी कर्म इस जीव के निकट इसमें बंध जाय उसका कारण भी नहीं है, क्योंकि कर्मबन्धन का कारण है मलिन परिणति। सो मलिन परिणति का भी क्षय हो चुका है, इस कारण सिद्ध भगवान् सिद्धपर्याय में अनन्तकाल तक रहते हैं, तो ऐसे पर्याय को मुख्य करके निरखना, जो पर्याय सादि नित्य हैं, पर्यायार्थिकनय की दृष्टि में निरखना कहा जाता है। सादि नित्य पर्यायार्थिकनय की दृष्टि में सिद्धपर्याय सादि नित्य है।

सादि नित्यपर्यायार्थिकनय के अवगम में प्राप्त प्रेरणा— हम आप सब जीव किस अवस्था में आयें कि सदा के लिए कल्याण हुआ समझिये? प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने भाव के अनुसार अपना भारी प्रोग्राम बनाये रखता है। मुझे ऐसा होना चाहिए। मैं इतना धनी बन जाऊँ, इतने वैभव वाला हो जाऊँ, ऐसी इज्जत वाला बन जाऊँ, इतना हो जाने पर मेरे जीवन का लक्ष्य पूरा होगा, यों अनेक लोग अपने-अपने भावों के अनुसार अपना प्रोग्राम रखते हैं, लेकिन ये सारे लौकिक प्रोग्राम मिथ्या हैं। करोड़पति भी बन जाय तो उससे इस जीव को मिला क्या? उससे उसका जन्ममरण छूट जायगा क्या? कीड़ा मकोड़ा बनना छूट जायगा क्या? दु:ख, आकुलता मिट जायेगी क्या? यह सब कुछ नहीं हो सकता। लोक में इज्जत बढ़ जाय, इज्जत के मायने क्या कि अज्ञानी स्वार्थीजन कुछ प्रशंसा कर दें, उसे इज्जत कहते हैं, तो ऐसी इज्जत बढ़ाने में भी इस जीव को बहुत मेहनत करनी पड़ेगी। सबकी सेवा, सबका दिल रखना, अनेक प्रकार के श्रम करके भी मान लो यह मिथ्या इज्जत बढ़ा भी ली, तो उससे इस आत्मा को लाभ क्या होगा? क्या शान्ति पा लेगा, क्या आकुलतायें दूर हो जायेंगी? क्या जन्म मरण मिट जायेगा? तो यहाँ किन्हीं भी प्रोग्रामों में कोई लाभ नहीं है। प्रोग्राम यह बनाना चाहिए कि मुझे तो सिद्ध बनना है। हमें तो यही एक सर्वोत्कृष्ट बात चाहिए। ऐसी मन में रुचि जगे, श्रद्धा बन जाय तो उस जीव को यह पर्याय प्रकट हो जायेगी, वह भव्य सदा के लिए संकटों से छुटकारा पा लेगा। यदि ऐसी अवस्था है तो यही है सिद्ध पर्याय। प्रकट होगी ना, इस कारण तो सादि है और सदा रहेगी यह पर्याय, इस कारण नित्य है। तो सादि नित्यपर्यायार्थिकनय की दृष्टि से इसकी ओर जाने तथा जानने की जो हमको प्रेरणा मिलती है कि हमको ऐसी पर्याय चाहिए जो आगे कभी भी मिट न सके और कल्याणमय हो।

सत्तागौण उत्पादव्ययग्राहक अनित्य शुद्धपर्यायार्थिकनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब ऐसे पर्यायार्थिकनय से आत्मा का परिचय कराया जायगा जो शुद्धपर्याय के रूप में है। जहाँ किसी विशिष्ट विशिष्ट परिणति को लेकर न कहना, लेकिन वे सिद्धपर्यायें अनित्य हैं और दृष्टिगत इन पर्यायों से भी बहुत अधिक अनित्य क्षणिक हैं जिन पर्यायों को हम व्यवहार में पाते हैं, ऐसी अनित्यता, ऐसी शुद्धपर्याय की दृष्टि उत्पाद व्यय को ग्रहण करने वाली होगी। जैसे यह कहना कि आत्मा की परिणतियाँ प्रतिसमय नष्ट होती हैं और उत्पन्न होती हैं। द्रव्य का स्वरूप ही ऐसा है कि वह प्रतिक्षण नवीन पर्यायों को पाता रहे। तो ऐसी पर्यायें इतनी सूक्ष्म हैं कि जो वचनों से अगोचर हैं, ग्रहण में नहीं आती, जिसे कह सकते हैं कि प्रतिसमय षड्‌गुणहानिवृद्धिरूप से यह जीव परिणमता रहता है। तो वहाँ उत्पाद व्यय दृष्टि में आ रहा है। यह ध्रुव है, नित्य है, यह बात यहाँ गौण कर दी गई और जो कुछ वहाँ प्रकट होता है उसकी यहाँ मुख्यता ली गई है। ऐसी दृष्टि को कहते हैं सत्तागौण उत्पादव्ययग्राहक अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय। सत्ता को गौण कर दिया गया है, जहाँ ध्रौव्य की बात गौण कर दी गई है, केवल उत्पादव्यय को उपयोग में ग्रहण किया गया है, तब ही तो इस दृष्टि में प्रतिसमय नवीन-नवीन रूप से परिणमता रहता है, यह बात विदित होती है। तो यों सत्ता को गौण करके उत्पादव्यय को ग्रहण करने वाले और ऐसे उत्पाद व्यय को तो जो प्रतिसमय होता है, ऐसी दृष्टि को सत्तागौण उत्पादव्ययग्राहक अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय कहते हैं। इस नय से हम अपने हित में क्या जानें कि आत्मा में प्रतिसमय नवीन-नवीन परिणमन होता है। वह परिणमन अपनी जाति का उल्लंघन करके नहीं होता। वह सब चैतन्यस्वरूप से ही धारा-प्रवाह चलता रहता है, लेकिन व्यतिरेक उन सबमें पाया जाता है। जो पूर्वपर्याय है वह उत्तरपर्याय नहीं, तो पूर्वपर्याय व्यतिरेक उन सबमें पाया जाता है। जो पूर्वपर्याय है वह उत्तरपर्याय नहीं, तो पूर्वपर्याय और उत्तरपर्याय में भेद है। एक मोटी बात यह भी समझ सकते है कि यदि पूर्वपर्याय और उत्तरपर्याय में भेद न हो, उतने ही सदृश परिणमन हों, और उसमें भेद न हो तो समय अप्रमेय हो जायगा। समय का गुजरना बन्द हो जायगा। समय का प्रयोजन क्या? समय गुजर रहा है, यह आप कैसे जान रहे हैं पदार्थों के परिणमन से। सूर्य का उदय हुआ, अस्त हुआ, बस जान गए कि दिन हुआ। घड़ी चलती है, सूई का गमन हुआ तो जान गए कि इतने मिनट हो गए। जहाँ सूई भी नहीं है घड़ी भी नहीं है, तो वह जानता रहता है कि इतना चले फिरे तो इसमें इतना समय गुजर गया। अब नवीनपरिणमन माना न जाय तो समय नाम काहे का रहा? अथवा सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाय तो नवीनसमय नवीन शक्ति का परिणमन हुआ है, वह नवीन ही परिणमन है। तो प्रतिसमय उत्पादव्यय वाला आत्मा है, वह नजर आया। यह हुआ सत्तागौण उत्पादव्ययग्राहक अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय।

कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब संसार अवस्था में रहते हुए भी हम आप सब आत्माओं की परिणति मूल में सिद्ध भगवान के समान है यह बात दिखायेंगे, जिस दृष्टि में यह

बात आयगी उस दृष्टि का नाम है कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्यशुद्धद्रव्यार्थिकनय। मूल में बात यह है कि जो भी पदार्थ है उसके सत्त्व के कारण अगुरुलघुत्वगुण के निमित्त से निरन्तर षड्गुणहानिवृद्धिरूपपरिणति होती रहती है। अब षड्गुणहानिवृद्धि के द्वारा परिणमते हुए पदार्थ को यदि विभाव की योग्यता और निमित्त सन्निधान है तो विभावरूप परिणमन हो लेगा और यदि योग्यता मलिन नहीं, निमित्त सन्निधान भी नहीं तो उसके स्वभावरूप परिणमन होवेगा, और चाहे स्वभावरूप परिणम रहा हो अथवा विभावरूप, प्रत्येक पदार्थ में मूलत: अगुरुलघुत्वगुण की शक्ति से प्रतिसमय षड्गुणहानिवृद्धिरूप परिणमन होता है। अब इस ही अंत:परिणमन को हम स्वभावपर्याय में रहने वाले पदार्थ में सुगमतया समझ जाते हैं और विभावरूप परिणमने वाले पदार्थ में हम सुगमतया नहीं समझ सकते। जैसे अंत:शक्ति की समझ के लिए एक दृष्टान्त लें- जल का स्वभाव मानो ठंडा है तो ठंडे जल में जल का स्वभाव ठंडा है यह जल्दी विदित हो जाता है और जल गर्म हो जाय तो उसको देखकर यह समझना देर में बन पाता है कि जल का स्वभाव ठंडा है। तो जो विभावपरिणाम से परिणम रहा है उस पदार्थ में मूल में अगुरुलघुत्व का परिणमन है, वह किस प्रकार है यह बात विलम्ब से समझ में आयगी और स्वभाव परिणमन की हालत में इस पदार्थ में निरन्तर अगुरुलघुत्व का परिणमन है यह उसमें सुगमतया समझ में आयगा। सुगमतया जानने में आये या कठिनरूप में, षड्गुणहानिवृद्धिरूप परिणमन प्रत्येक पदार्थ में निरन्तर होता रहता है। तो अब हम संसारी आत्मा में भी पदार्थ के नाते से मूल परिणमन को निरखते हैं तो हमें वह परिणमन ऐसा ही विदित होगा जैसा कि शुद्ध सिद्ध भगवान में चल रहा है।

स्थूलदृष्टान्तपूर्वक अन्त: अर्थपर्याय की सदृशता का दिग्दर्शन— और भी स्थूलरूप से इस विषय को समझने के लिए एक मोटा दृष्टान्त लो। जैसे कोई यंत्र जो कि बहुत फिट है और बहुत शीघ्रता से चल रहा है। मानो ऐसे दो यंत्र हैं और दोनों ही चल रहे हैं। चलते हुए कि हालत में दोनों के चक्र इस प्रकार चल रहे हैं कि वहाँ चलना समझ में नहीं आता। जैसे कि कभी यह बिजली का पंखा जब बहुत तेजी से चल रहा हो तो फिर उसका चलना नजर में नहीं आता। इससे भी और अधिक बारीकी की बात उस चक्र में है कि जो चक्र निरन्तर चारों ओर से एक समान है। तो अब चलते हुए उन चक्रों पर उनमें यदि एक एक पर कोई मलिनता पड़ी हो, कहीं-कहीं रंग चढ़ा हो या कोई मैल लगा हो तो उस चक्र का घूमना स्पष्ट विदित हो रहा है और उस घूमते हुए चक्र में उन रंगों का मलिनताओं का दर्शन हो रहा है। वहाँ उस दूसरे शुद्ध चक्र की नाई शुद्ध चक्र परिवर्तन है- यह बात दृष्टि में नहीं आती। और दूसरे चक्र में जो कि शुद्ध है वह चल रहा है तो उसमें शुद्ध चलना कैसे हो रहा है, यह बात स्पष्ट समझ में आती है। तो यों ही संसारी जीव में भीतर शुद्ध परिणमन किस प्रकार हो रहा है वह बात चाहे देर से समझ में आये, मगर विशुद्ध परिणमन बराबर है। जिसके आधार पर अशुद्ध परिणमन की भी व्यक्ति हो जाती है इस प्रसंग में शुद्ध परिणमन का अर्थ विभावरहित परिणमन नहीं रहता, किन्तु जिस परिणमन के साथ मलिनता या स्वाभाविकता आये, कोई भेद न

डाला जाय, केवल परिणमन इतना ही मात्र निरखा जाय तो इस दृष्टि से आत्मी संसारी पर्याय भी वैसी ही केवल है और अंत:परिणमन भी वैसा ही शुद्ध है जैसा कि सिद्ध प्रभु का परिणमन केवल है और अंत: विशुद्ध परिणमन है, केवलता की समानता तो व्यक्त स्वाभाविक परिणमन और व्यक्त विभाव परिणमन में लगाया जा सकता है। सिद्धभगवान जो केवल ज्ञानादिकरूप परिणम रहे हैं सो भी केवल परिणम रहे हैं और ये संसारी जीव भी जिन पर्यायोंरूप परिणम रहे हैं सो भी केवल परिणम रहे हैं। केवलता की तुलना तो व्यक्तपर्याय से हुई और अन्त:परिणमन जो चल रहा है पदार्थ में सत्त्व के नाते से वह परिणमनमात्र है, इतनी निगाह से देखने पर शुद्धपरिणमन कहा जाता है। तो संसारीपर्याय भी अंत: सिद्ध समान शुद्ध केवल है। यह बात कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय से विदित होती है। उस परिणमन को निरखने में कर्मोपाधि की अपेक्षा नहीं रखी गई, इस कारण कर्मोपाधिनिरपेक्ष है और वह परिणमन भी अनित्य है, इस कारण अनित्य कहा और वह परिणमन विकल्पजाल से रहित है। शुद्धपरिणमन, अशुद्धपरिणमन विभावस्वभाव ये भेद उसमें नहीं डाले गए, इस कारण इन्हें शुद्ध परिणमन कहते हैं। शुद्ध का अर्थ है प्यौर, केवल, परिणमनमात्र। इस दृष्टि में यह संसारीपर्याय भी सिद्ध समान अन्त: शुद्ध केवल है।

सत्तासापेक्ष अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब आत्मा के सम्बन्ध में इस प्रकार भी परिचय मिलता है कि आत्मा की पर्यायें उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है, सो यह किस दृष्टि में जो विदित होता है यह बताते है। देखिये नवीनपर्याय उत्पन्न होती है पूर्वपर्यायविलीन होती है और यों पर्यायों के होते रहने का ताँता निरन्तर रहता है। तो यों पर्याय की दृष्टि में उत्पादव्ययध्रौव्य विदित हुआ, ऐसे उत्पादव्ययध्रौव्य से युक्त आत्मा की भी परिणति है। अर्थात् परिणति नवीन उत्पन्न होती है और पूर्वपरिणति विलीन होती है और परिणति चलती रहती है- यह बात आत्मा में विदित होती है सत्तासापेक्ष अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय में। इस विषय को सत्तासापेक्ष रखा गया है। उत्पादव्ययध्रौव्य ये सत्ता के लक्षण हैं। सत्त्वउत्पादव्ययध्रौव्य के बिना कुछ नहीं ठहरता। तो उत्पादव्ययध्रौव्य ही जिसका एकमात्र लक्षण है ऐसी सत्ता की अपेक्षा रखकर इन पर्यायों को निरखा जा रहा है और फिर ये पर्यायें अनित्य हैं तथा इन पर्यायों को विशुद्ध रूप में देखा जा रहा है, अर्थात् पर्यायों के साथ कोई विशेषता नहीं लगायी जा रही है। जैसे कि घट पर्याय हुई, पिण्ड पर्याय विलीन हुई। ऐसा नाम ले लेकर ऐसी असाधारण विशेष-विशेष पर्यायें यहाँ नहीं जोड़ी जा रही हैं, इस दृष्टि में जँच रहा है कि आत्मा की पर्यायें उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हैं। यह आत्मपरिचय का प्रकरण चल रहा है। बात तो ऐसी समस्त पदार्थों में है। प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। यहाँ केवल उत्पाद, केवल व्यय और केवल ध्रौव्य लेना, किसका उत्पाद आदि यह विवक्षित नहीं है। किसका उत्पाद, यदि इस तरह कहा जाता तो यह विशुद्धता का अर्थ मलिनता से नहीं, किन्तु विशेष बात से संयुक्त करके बोलना सो अशुद्धता कहलाती है और एक

साधारणतया निरखना, जो सर्वत्र सम्भव हो, उसे कहते हैं शुद्ध। तो आत्मा की पर्यायें उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हैं, इस प्रकार से आत्मा का परिचय मिलता है सत्तासापेक्ष अनित्य शुद्धपर्यायार्थिकनय में।

कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब निरखिये एक उस दृष्टि से जिस दृष्टि में संसारी आत्माओं के जन्ममरण कषायादिक परिणमन चलते रहते हैं। संसारी आत्माओं के जन्म होते, मरण होते, कषायें होती। आत्मा का जन्म मरण नहीं, किन्तु पर्यायविशिष्ट आत्मा को कहा गया ना, अर्थात् उस पर्याय में रहने का नाम जन्म है और उस पर्याय में न रहने का नाम मरण है? जन्म और मरण वस्तुत: किसी भी पदार्थ में नहीं हैं, क्योंकि जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता। जो असत् है उसका कभी उत्पाद नहीं है। सत् का नाश होता, ऐसा यदि कल्पना में लाया तो यह बताओ कि जो सत् है वह जाय कहाँ? उसका नाश होना क्या कहलायेगा? ऐसा कोई उदाहरण नहीं है कि नाश के मायने सर्वपरिहार हो याने कुछ न रहे, शून्य हो जाय। यदि लकड़ी जल गई तो उसका नाश हो गया। नाश हो गया फिर भी राख तो रही। कोई भी वस्तु मूलत: नष्ट नहीं होती, अतएव किसी भी पदार्थ में पुद्गल हो अथवा जीव हो उसका समूल नाश नहीं हो सकता। कोई कल्पना करे कि पदार्थ का असत् का उत्पाद हो जाता तो अनित्य के उत्पाद में जो कुछ व्यक्त हो, जो बात आये वह न था तो कैसे आया? कुछ न था तो उसकी यह व्यक्ति बनी कैसे? किसी में भी यह सामर्थ्य नहीं है कि किसी भी असत् पदार्थ के उत्पाद में कोई निमित्त भी बन जाय।

प्रभु में भी पर के कर्तृत्व की असंभवता— अनन्त शक्तिमान् ईश्वर भी अपना ही उत्पादव्यय करने में प्रभु नहीं है। और वह तो किसी परपदार्थ के किसी परिणमन में निमित्त भी नहीं है। जैसे लोग कहते हैं कि इस लोक को ईश्वर ने बनाया, जो यह सामने प्रत्यक्ष दिख रहा है। तो बनाने की बात क्या, इस पदार्थसमूह की रचना में ईश्वर उपादान भी नहीं और निमित्त भी नहीं, जबकि हम आप अन्य पदार्थों की रचना में उपादान तो नहीं, पर निमित्त तो हो जाया करते हैं। ईश्वर तो निमित्त तक भी नहीं हैं। लेकिन वस्तु के उत्पाद व्यय ध्रौव्य जिसे कि कुछ दार्शनिकों ने सत्त्व रज तम गुण से प्रसिद्ध कर रखा है उसका रहस्य जब विदित नहीं है तो आखिर यह सब बना कैसे? उसके लिए कोई कल्पना करनी होती है। जैसे कि कोई वृद्ध लोग सुनाते हैं कि जब कभी प्रथम ही बार रेलगाड़ी निकली तो यह रेलगाड़ी चल कैसे गई, कितनी तेज चल रही है? यह बात देहाती जनों की समझ में न आयी तो यह कल्पना आ गई कि आगे का जो काला-काला डिब्बा है इसमें काली देवी बैठी हुई चला रही है। कुछ तो कल्पना करते हैं। जब यथार्थ बात समझ में नहीं आती तो कुछ कल्पना उठती है, वस्तु में उत्पादव्ययध्रौव्य धर्म स्वभावत: पड़े हुए हैं, अतएव सत् ही उत्पाद रूप में है, सत् ही व्ययरूप में है और सत् ही ध्रौव्यरूप में है। तब किसी भी पदार्थ का मरण नहीं, किसी भी पदार्थ का जन्म नहीं, अवस्था का उत्पाद है और अवस्था का व्यय है, फिर भी पर्याय संयुक्तपदार्थ का उत्पादव्यय कहा जा सकता है। वहाँ भी भाव यह है कि मूलपदार्थ का उत्पादव्यय नहीं हुआ, किन्तु उसकी अवस्था का

उत्पादव्यय हुआ। यहाँ भी जब कभी किसी मित्र को अपने प्रतिकूल देखते हैं तब कहा जाता है कि हे मित्र ! अब तुम तुम नहीं रहे। तो क्या यह रहा नहीं? क्या मूल से नष्ट हो गया? वहाँ भी वह पर्याय की ही बात कर रहा है, मगर पर्याय से संयुक्तद्रव्य के नाम से कह रहा है। तो संसारी आत्माओं के जन्म और मरण होते हैं।

जन्ममरण को संकट समझ लेने के पौरुष की वार्ता— देखते हैं कि कितने ही जीव मरण कर जाते हैं, कितने ही जीव जन्म ले रहे हैं। जीव वही हैं, आते हैं, जाते हैं, मिलते हैं, बिछुड़ते हैं, किसी जीव का परस्पर में किसी दूसरे से नाता नहीं। जैसे कि कोई कथानक आता है कि अमुक ये दो जीव तीन चार भवों तक साथ-साथ रहे। तो कुछ कर्मबन्धवश ऐसी बात हो भी जाय, लेकिन उनका जन्ममरण, सुखदु:खभोग आदि सब अलग-अलग हैं। तो जन्म और मरण ये नये देह के मिलने और बिछुड़ने के नाम हैं। हो तो रहा है यह सब और बड़ी विडम्बना है। हम आप पर कितना संकट छाया हुआ है, जन्ममरण होने का नाम तो विकट संकट है। कषाय में आकर हम अन्य बातों में संकट खोजने लगते हैं और जो खास संकट पड़ा हुआ है जिस संकट से छुटकारा पाये बिना शान्ति नहीं मिल सकती उस संकट पर दृष्टि नहीं रहती।

सुयुक्त प्राप्त अवसर का लाभ उठा लेने की प्रेरणा— इस जन्ममरण के संकट से मेरा छुटकारा हो इस ओर दृष्टि होने में बड़ा ज्ञानबल चाहिए और वैराग्य बल चाहिए। खूब अन्त: भली दृष्टि से सोचें कि हमारा इस जीवन में उपयोग क्या है? किसलिए हम जन्मते हैं, किस वास्ते हमारी जिन्दगी है? और बड़े अमूल्य नरभव की जिन्दगी पाकर हमारा कर्तव्य कौनसा है जिससे कि हमारे ये क्षण सफल कहलायें? जीवन पर्वत से गिरने वाली नदी की तरह बड़े वेग की धारा में गुजरता रहता, जो समय गुजर गया वह अनेक उपाय करने पर भी नहीं मिलता। बचपन में हम आपमें बहुत से लोगों की बड़े आनन्द की स्थिति थी। विद्या इस तरह सुगमतया आती रहती थी कि थोड़ा भी गुरुजन बताते तो उसका बहुत अर्थ समझते थे। और जो नहीं पढ़े वह भी समझते थे और लगता था कि शिक्षा और विद्या और विद्या के सीखने में कितना ही कोई भार रख दे उस सबको निभाने में समर्थ थे। खेलने कूदने वगैरा के मौज प्रसंग उत्तम थे। किसी प्रकार की चिन्ता न थी, माता पिता आदिक के बड़े प्यार मिलते थे, जीवन का वह कितना सुखद समय था? पर वह समय भी निकल गया। निकल तो गया, पर अब अनेक उपाय करने पर भी वापिस नहीं आ सकता। तो जो समय गुजर गया उसका रोना क्या है? मगर जो आज है उसका तो विचार करना चाहिए। आज का दिन भी तो गुजरने वाला है। अब का समय भी व्यतीत हो जायेगा। निकट समय आ जायेगा जबकि देह को छोड़कर जाना पड़ेगा। मान लो आज से पहिले ही हम गुजर गये होते तो अब की बात मेरे लिए क्या थी? सोचिये— जिसके विकल्पों में हम अपने आपका सही संकट नहीं समझ पाते और आत्मदृष्टि नहीं कर पाते। कुछ तो न था और क्या ऐसा हो नहीं सकता था कि हम अब से पहिले कभी भी मर गए होते। इस भव में अनेक घटनायें

देखते हैं कि कोई गर्भ में ही मर जाता है, कोई शिशु अवस्था में, कोई जवानी में गुजर जाता है तो ऐसे मरण की सम्भावना पहिले भी तो हो सकती थी। मान लो मर गए होते तो अब किसी अन्य पर्याय में होते। वहाँ यहाँ का कुछ भी साधन न होता। कोई समागम न होता। तब तो ध्यान में आया ना कि मेरे लिए ये समागम कुछ नहीं है। तो अब यदि है यह और सामने समागम भी हैं तो यहाँ भी इतने ही फटे दिल से निरखना चाहिए कि यह सारा समागम मेरा कुछ नहीं है। मैं केवल अपने सत्त्व में हूँ, अपने आपमें अपना उत्पाद व्यय करता रहता हूँ। बस यही मेरी कहानी है।

जन्म मरण से छुटकारा पाने के उपाय की चर्चा, दृष्टि, उमंग का कर्तव्य— हम आप पर जो आज जन्म मरण के संकट छाये हैं इस पर कितनी दृष्टि रखना है, कितनी चर्चा की यह बात है? और मित्रों में कब परस्पर में ऐसी चर्चा करते हैं कि मित्र यह संसार तो बड़ा दु:खद है? चलो यहाँ कोई ऐसा उपाय बना लें कि जिससे जन्ममरण के संकट सदा के लिए छूट जायें। परिवारजनों में, पति, पत्नी, पिता, पुत्रादि में क्या कभी ऐसी चर्चा भी होती कि हे आत्मन् ! अपने आपको देखो यह कितना अच्छा सुयोग मिला है कि जहाँ हम आप जन्म मरण के संकटों से छुटकारा पाने का उपाय बना सकते हैं। बना लो ना ऐसा उपाय, ऐसा सत्संग बनाओ कि जिसमें ज्ञानार्जन अधिकाधिक हो सके, ऐसी बात परिवारजनों में सोचता ही कौन है? हाँ अगर किसी धार्मिक कार्य में कभी कुछ खर्च करने की बात आ गयी तो उसमें बड़ा हिसाब लगाना पड़ता है। ज्ञानार्जन आदि के कार्यों में खर्च करने के लिए मन में उमंग ही नहीं उठती। सांसारिक सुखों में, भोगसाधनों में, ममता की पूर्ति में अपना सर्वस्व अर्पित करने के लिए तैयार रहा करते हैं। लेकिन आपको एक कथानक विदित होगा कि श्रीमद् रायचन्द्र जी जिस समय अपनी दुकान पर बैठे हुए थे उस समय कोई व्यक्ति समयसार नाम का एक ग्रन्थ लेकर आया। श्री रायचन्द्र जी ने जब उसके दो चार श्लोक पढ़े तो पढ़कर गद्गद् हो गए। सोचा- ओह ! इसमें तो बड़ा ही अद्भुत रहस्य भरा है। जन्ममरण के संकटों से छुटकारा पा लेना इससे बढकर और लाभ की बात क्या हो सकती है? उस प्रसन्नता में जब उस ग्रन्थ के दातार पर दृष्टि गई तो और कुछ न देखा एक मुट्ठी में हीरा जवाहरात भरकर उसे दे डाला। अब वहाँ क्या हिसाब लगाया जाय, कितना धन उसे दे डाला। इससे शिक्षा यह लें कि ज्ञानार्जन के लिए अपना तन, मन, धन, वचन आदि सर्वस्व अर्पित करके भी निरन्तर प्रयत्नशील रहें और इस जन्ममरण का संकट मेटने का उपाय बना लें। तो आत्मा में जो जन्ममरण कषाय परिणमन विदित होते हैं वे किस दृष्टि में विदित होते हैं उसका नाम है कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय। यह काम कर्मोपाधि की अपेक्षा से है और परिणमन अनित्य है और अशुद्धपर्याय का वर्णन है। अत: इस नय का नाम है कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय।

शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय में आत्मपरिचय का प्रकार— शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय से आत्मा का परिचय किस रूप में मिलता है, इसका अब वर्णन करते हैं। शुद्ध सद्भूतव्यवहार का अर्थ है शुद्ध सद्भूत तत्त्व का ब्यौरा करना। जो तत्त्व शुद्ध है, परतत्त्व से निराला है, परभाव से पृथक् है और सद्भूत है, पदार्थ में ही स्वयं अपने आपके सत्त्व से हुआ है, ऐसे तत्त्व का बताना सद्भूत व्यवहार है। आत्मा में शुद्ध सद्भूत व्यवहार दो रूपों में निरखियें। द्रव्यरूप में और पर्यायरूप में। जो आत्मा की स्वाभाविक पर्याय है, शुद्ध सिद्ध पर्याय है, वह भी शुद्ध सद्भूत है और आत्मस्वभाव चैतन्यभाव यह भी शुद्ध सद्भूत है। तो जब स्वभाव की ओर दृष्टि करके शुद्ध सद्भूत का व्यवहार करेंगे तो इस दृष्टि में यह विदित होगा कि आत्मा में चैतन्य है। व्यवहार कहते हैं जोड़ और तोड़ को। कहीं जोड़कर दिया जाय वह भी व्यवहार है तोड़कर दिया जाय वह भी व्यवहार है। आत्मा और चैतन्य कोई पृथक् तत्त्व नहीं हैं, लेकिन पृथक्करण किया गया, तोड़ दिया गया आत्मा और उसमें चैतन्य है तो यों तोड़ भी है और तोड़ करके फिर जोड़ा गया है, यह चैतन्य आत्मा में है, इस कारण यह व्यवहार है। और पर्यायार्थिकनय का भेद होने से मुख्यतया जब पर्याय पर ली जाती है तो यह विदित होता है कि आत्मा की स्वभावपर्याय शुद्ध सिद्धपर्याय है, शुद्धपर्याय निरपेक्ष है, स्वाभाविक है और सिद्ध है, आत्मा के ही स्वभाव से प्रकट हुई है। अतएव सद्भूत है। तो यों आत्मा का परिचय चैतन्यमात्र अथवा स्वाभाविक शुद्धपर्याय में है। इस प्रकार निरखना सो शुद्धसद्भूत व्यवहारनय का दर्शन है।

अशुद्ध सद्भूतव्यवहारनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय में आत्मा का परिचय किस प्रकार मिलता है, सो देखिये- यहाँ बताया जायेगा अशुद्ध सद्भूत। इसकी भी दृष्टि दो प्रकार में होगी। एक तो द्रव्यदृष्टि में दूसरी पर्यायदृष्टि में। द्रव्यदृष्टि में भेद करके व्यवहार बनाया, अशुद्ध किया गया। यहाँ अशुद्ध का अर्थ मलिनता न लेना, किन्तु जो अखण्ड है उसमें भी भेद करना सो अशुद्ध कर देना है। शुद्ध कहते हैं केवल अखण्ड को। केवल अखण्ड में बाधा आये, उसमें खण्ड अथवा विकल्प किया गया तो उसे अशुद्ध कर दिया समझिये। अब वह अछूता, शुद्ध न रहा। तो यों अशुद्ध हुआ और आत्मा के ही स्वभाव गुण की बात हो तो उसे सद्भूत कहेंगे। यों अशुद्ध सद्भूत के व्यवहार करने को अशुद्ध सद्भूतव्यवहार कहेंगे। जैसे यों कहना कि ज्ञानी जीव के अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद वाला ज्ञान है। अहो प्रथम तो आत्मा के ज्ञान है और इसका ही व्यवहार किया गया, लेकिन उस ज्ञान के भी और खण्ड करना, अंश करके बताना कि अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद वाला ज्ञान है, यह अशुद्ध कर डाला स्वभाव को। वर्णन किया ही न गया सद्भाव का ही, लेकिन उसके खण्ड विकल्प भेद करके अंश और कैसे अंश किए गए कि जिसका दूसरा अंश ही न हो सके। अविभाज्य अंश को अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं— ऐसा भाग करना जिसका दूसरा भाग न हो सके। ऐसा अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद वाला ज्ञान है यह कथन अशुद्ध सद्भूतव्यवहार का है अथवा अशुद्ध पर्याय के रूप में देखा तो अशुद्ध पर्याय अज्ञान है। ज्ञान की कमी, ज्ञान का विपरीतपना ऐसा अज्ञानरूपभाव अज्ञानी जीवों

के होता है, यह बताना अशुद्ध सद्भूतव्यवहार है। है वह सब ज्ञान की बात, ज्ञान की गुण बताने वाली बात, लेकिन उसकी मलिनता को बताया गया है, इस कारण अशुद्ध सद्भूतव्यवहार है। अब आप सब कथन बहुत करते रहते हैं, किन्तु उसके साथ यह भी समझ में आना चाहिये कि यह इस दृष्टि से कथन है। नयदृष्टि के ज्ञान से चित्त में बड़ा प्रकाश रहता है और विवाद विरोध उलझन सब समाप्त हो जाते हैं। अज्ञानी जीव के अज्ञानमयभाव हैं, ऐसा वर्णन करना अशुद्ध सद्भूतव्यवहारनय की दृष्टि से है अथवा ज्ञानी का ज्ञान अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद वाला है, यों उसमें अविभाग प्रतिच्छेद मानकर कथन करना सो अशुद्ध सद्भूतव्यवहारनय है।

द्रव्यनय से आत्मपरिचय का प्रकार बताने के प्रसंग में द्रव्यनय के एकान्त के परिणाम का कथन— अब द्रव्यनय में आत्मा का किस प्रकार परिचय मिलता है? उसका कथन करते हैं। द्रव्य जो त्रैकालिक है, सीमारहित है, सामान्य है, एक स्वरूप है, अद्वैत है, ऐसे तत्त्व को निरखने की दृष्टि द्रव्यनय कहलाती है। जिन जीवों ने, दार्शनिकों ने द्रव्यनय का एकान्त किया उनके दर्शन का प्रकटरूप यह बना कि आत्मा अथवा ब्रह्म चैतन्यस्वरूप है। और वह ऐसा चैतन्य कि जिसमें जानने देखने का काम न होगा। जानने देखने का कार्य तो प्रकृति के धर्म से होगा। यह आत्मा का स्वयं निज का काम नहीं है, उसके स्वभाव में यह नहीं पड़ा कि यह ब्रह्म जाने और देखे। जानना तो विकार है, प्रकृति का धर्म है। आत्मा का काम केवल चेतना है। पूछा जाय कि उस चेतना का अर्थ क्या है? तो चेतना का अर्थ कुछ विशेषरूप से समझाने का जब प्रयत्न किया गया तो यों कहना पड़ा कि जानने का काम तो बुद्धि ने किया और बुद्धि से जाने गए पदार्थ को चेतने का काम आत्मा ने किया। तो यह काम भी क्या है? बुद्धि से जान लिया, अब इसके आगे काम क्या रह गया? नहीं रह गया। बस ऐसा ही तो देखना था। ऐसा यह दर्शन में कहा गया कि बुद्धि के द्वारा निर्णीत पदार्थ को यह आत्म-ब्रह्म चेतता है। तो चेतना एक ऐसा धर्म माना गया कि जिसका कोई व्यक्तरूप नहीं, जिसका कोई अर्थ नहीं। तो ऐसा चैतन्यमात्र यह ब्रह्म है, यह द्रव्यनय के एकान्त में बात बन गयी। और वह चैतन्यमात्र एक है, यह भी द्रव्यनय के एकान्त में प्रकट होता है। कहा है नाना? जहाँ चेतना का अर्थ इतना सामान्य सूक्ष्म बताया जो कि ग्रहण में भी नहीं आये तो उसमें अनेकता कैसे थापी जा सकती है? इसलिए कहा गया है कि वह चैतन्य एक है और एक है तो क्या बटबीज की तरह किसी एक जगह थोड़े हिस्से में चेतना पड़ी है। तो उत्तर दिया गया कि वह चैतन्य सर्वव्यापक है। तब दर्शन बना द्रव्यनय के एकान्त में कि ब्रह्म चिन्मात्र है और एक सर्वव्यापक है। बन गया यह दर्शन, लेकिन जो भी दर्शन बना वस्तुस्वरूप के बारे में वह बिल्कुल असत्य न होगा। एकान्त आग्रह होने से ही असत्य है।

द्रव्यनय में चिद्ब्रह्म के परिचय का प्रकार— ब्रह्म एक सर्वव्यापक है, यह बात जिस दृष्टि में सही है उस दृष्टि का नाम है द्रव्यनय। जो बात कही गई है उस अपरिणामी दर्शन में वह बात ठीक है। ब्रह्म एक सर्वव्यापक

चिन्मात्र है, किन्तु यह द्रव्यनय की दृष्टि में कथन है। सर्वथा ऐसा ही है सो नहीं है। यदि किसी प्रकार द्रव्यनय में यह देखते हैं कि आत्मा चिन्मात्र है, एक सर्वव्यापक है तो सर्वव्यापक की बात तो बाद की है, ''एक है'' इतना भी द्रव्यनय में भेद न होगा। चिन्मात्रस्वरूप को जब निरखा तो उसे एक भी क्यों कहा जायेगा? एक कहा गया तो वह किसी आकार में बंध गया। पर चैतन्य तो निराकार है, उसे एक कैसे कहा जायेगा? चाहे कितना ही बड़ा कुछ हो, यदि वह एक है तब भी आकार में बंधा है और अनेक है तो आकार में बंधा है, यह स्पष्ट ही विदित होता है। तो चैतन्यमात्र एक है, इस विकल्प से भी परे सर्वव्यापक है, इतना कहने में भी चैतन्यमात्र के स्वरूप को जानने का जो मर्म है वह अलग हट जाता है, क्योंकि व्यापकता निरखी जाती है क्षेत्रदृष्टि में। जहाँ आकार का फैलाव, क्षेत्र का विस्तार निरखा जाय वहाँ व्याप्य-व्यापक की बात आती है। जैसे आकाश सर्वव्यापक है, लेकिन सर्वव्यापक आकाश है- इस कथन में इस ज्ञानी ने क्या जाना? क्षेत्रविस्तार, न कि भाव। चिन्मात्र तो भाव है। क्षेत्ररूप नहीं है अतएव चिन्मात्र को सर्वव्यापक कहना यह भी चिन्मात्र का महत्त्व कम कर देना है। वह ''सर्वव्यापक'' विकल्प से भी परे ऐसा यह चिन्मात्र ब्रह्म है। यह द्रव्यनय में निरखा जाता है।

विकल्पनय से आत्मपरिचय का प्रकार— अब चिन्मात्र ब्रह्म को जब समझाने चलेंगे तब ही तो तीर्थप्रवृत्ति बनेगी। पाप छोड़ें, धर्म करें, सदाचार में लगें, ध्यानादि बनायें ये सब व्यवहार और परिणतियाँ तब ही तो बन सकेंगी कि जब हमें उद्देश्य का पता पड़ जाय। उद्देश्य यह है कि उस चिन्मात्र भाव में समा जावो। फिर संसार का कोई संकट न रहेगा। ठीक है। उस चिन्मात्र भाव का परिज्ञान भी तो चाहिए। तो परिज्ञान करना कराना यह भेददृष्टि बिना न होगा। उस एक अखण्ड चैतन्यमात्र, चिन्मात्र, ब्रह्म में भेद करके जब परखा जायेगा, यह आत्मा अनन्त गुणमय है, पर्यायोंमय है, द्रव्य, क्षेत्र, काल की अपेक्षा इस प्रकार है, जब यों समझा जायेगा तब ही तो परिचय होगा कि आत्मतत्त्व क्या है? तो एक अखण्ड आत्मब्रह्म का परिचय करने का उपाय विकल्प है, भेदीकरण है। यों विविध प्रकार का परिचय विकल्पनय में प्राप्त होता है, अन्यथा 'आत्मा आत्मा' इतना ही कहते जाये कोई तो वे क्या समझे? जब तक विश्लेषण करके न कहा जाय, जो जानता है वह आत्मा, जो देखता है वह आत्मा, जो सदा रहता है और अपनी भावात्मक पर्यायें बनाता रहता है वह है आत्मा। तो द्रव्य गुण पर्याय आदिक का विश्लेषण करके आत्मा को समझाया जाय तो उसका परिचय होता है। आत्मा ब्रह्म, केवल इतना कह देना तो उन जीवों के लिए सार्थक है जिनने अनुभव किया है और बड़े अभ्यास से सब कुछ परिचय पा लिया है, अब वह एक शब्द सुनकर ही उस पूरे आत्मतत्त्व को अवधारित कर लेता है। लेकिन जिनको इस स्वभावपरिचय का अभ्यास नहीं है, जिनका जिन्हें बोध नहीं है उनके लिए उस निर्विकल्प ब्रह्म में विकल्प उठाकर प्रयास करना पड़ेगा।

उदाहरणपूर्वक तीर्थप्रवृत्ति के लिये विकल्पनय के उपयोग के प्रतिपादन की संगतता का कथन— जैसे जो पुरुष संस्कृत भाषा को नहीं जानता उस पुरुष के प्रति, राजा के प्रति कोई पंडित गया और उसने आशीर्वाद दिया- 'स्वस्ति' अर्थात् तुम्हारा कल्याण हो, मंगल हो, अविनाश हो, अर्थ उसका यह है लेकिन स्वस्ति शब्द से वह कुछ न समझ सका तो वह राजा आँखें खोलकर देखता रहता है— क्या कहा? कुछ समझ में नहीं आया। जो संस्कृत भाषा का और राजा की भाषा का जानकार हो वह जब राजा को राजा की भाषा में समझता है कि स्वस्ति कहा, इसका यह अर्थ है कि तुम्हारा कभी विनाश न हो, तुम सदा फले फूले रहो, तुम्हारा मंगल हो। तो इतनी बात सुनकर राजा हर्ष से गद्‌गद् हो जाता है। तो जिस भाषा का परिचय नहीं है, उस भाषा से अपरिचित लोग कुछ नहीं समझ पाते। उनके लिए उनकी भाषा में कहना पड़ता है तो उनकी भाषा है व्यवहारमय, विकल्पमय, भेदमय और यह है अभेद भाषा। तो अभेद भाषा में कहे गए ये ब्रह्मादिक शब्द सबका ज्ञान कराने में असमर्थ हैं, अत: विकल्पनय से आत्मपरिचय कराया जाता है तो विकल्पनय में आत्मपरिचय इस प्रकार होता कि आत्मा गुण पर्याय वाला है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा इस प्रकार है, यह सब वर्णन विकल्पनय में होता है।

अव्यक्तव्यनय से आत्मपरिचय का प्रकार— अब बताते है कि किया तो विकल्प, लेकिन विकल्प तो करने पड़े। परमार्थत: आत्मा का जो स्वरूप है वह तो अवक्तव्य है। तो जब आत्मा के सम्बन्ध में यह कहा जायेगा कि आत्मा अवक्तव्य है, उसको कहा नहीं जा सकता, उसका स्वरूप नहीं बताया जा सकता। तो यह कथन किस दृष्टि में हुआ? इसे कहते हैं अवक्तव्यनय। आत्मा में गुणों की परख की, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक अनन्त गुणमय हैं। आत्मा में परख की कि यह स्वरूप से है, पररूप से नहीं है, यह द्रव्यदृष्टि से नित्य है, पर्यायदृष्टि से अनित्य है। ये समस्त परख करने के बाद जब हमने यह प्रयत्न करना चाहा कि मैं सभी अपेक्षाओं से एक साथ कह लूँ कि आत्मा कैसा है तो समस्त धर्मों का एक साथ कथन करें, तो ऐसा कोई उपाय नहीं है। तब कहा जायेगा कि वह तो अवक्तव्य है। उसका यथावत् स्वरूप वचनों के अगोचर है। यों अवक्‌तव्यनय से आत्मा अवक्तव्य दिखता है, क्योंकि इसमें समस्तगुणों की एक साथ प्रधानता की गई है। जब गुणों की प्रधानता की जाती है तो वहाँ वचनव्यवहार बनता है। जब सभी धर्मों की एकता प्रधान की गई हो तब वहाँ अवक्तव्य दृष्टि बन जाती है। यों अवक्तव्यनय में आत्मा वचनों के अगोचर है, यह प्रतीत होता है।

पर्यायनय में विशिष्ट गुण की अपेक्षा से आत्मपरिचय का प्रकार— अब पर्यायनय से आत्मा किस भाँति निरखा जाता है, सो बताते हैं। इसका विषय स्पष्ट है। पर्यायनय में पर्याय से आत्मा किसी विशिष्ट गुण या पर्याय वाला है। देखिये अभेद आत्मा का भेद करना सो पर्याय है। पर्याय का मूल अर्थ है भेद करना। अब भेद करना यह भी है कि आत्मा का गुणों से भेद करना। आत्मा ज्ञान वाला है, दर्शन वाला है, चारित्र वाला

है, तो यों आत्मा के गुणों का भेद करना भी पर्यायनय का काम है। यहाँ अवस्थायें नहीं बतायी गई किन्तु उस अभेद आत्मा का भेद किया गया। पर्यायनय में यह भी विदित होता है कि आत्मा ज्ञानगुण वाला है, दर्शनगुण वाला है, चारित्रगुण वाला है। यहाँ एक बात अन्तर में पड़ी हुई है इस कारण भी इस गुणभेद को पर्याय कहते हैं। क्या बात पड़ी हुई है? यह ज्ञानगुण वाला है ऐसा विशेष नाम देकर गुण का कथन तब ही तो कर सकेंगे जब ज्ञानगुण के काम का भी परिचय हो। यह ज्ञानगुण वाला है, ऐसा जो कहा है उसकी समझ में यह बैठा हुआ है कि यह जानने वाला है, यह जानना होता है वह ज्ञानगुण कहलाता है, यों आत्मा ज्ञानगुण वाला है। विशिष्ट गुण का नाम लेने पर पर्याय का परिचय सम्बन्धित रहता है। इस कारण विशिष्ट गुण का भेद करना भी पर्यायनय का काम है।

पर्यायनय में विशिष्ट पर्याय की अपेक्षा से आत्मपरिचय का प्रकार— अथवा विशिष्ट पर्याय का नाम लेकर कहना कि आत्मा क्रोध कषाय वाला हो रहा है, मान कषायवान् हो रहा है अथवा शान्त हो रहा है। किसी भी पर्यायरूप से आत्मा का कथन करना, यह एक पर्यायनय की दृष्टि है। तो पर्यायार्थिकनय में आत्मा विशिष्ट गुण या विशिष्ट पर्यायमात्र प्रतीत होता है। स्थूल रूप से इसी प्रकार में जीवों का परिचय हुआ करता है। किसी भी जीव को देख करके कहना कि यह जीव है पशु, पक्षी, मनुष्य कोई भी दिखा तो झट पहिचान गए कि यह जीव है। अरे उसने पहिचाना क्या? जो जीव है, जीवत्व है उस पर किसकी दृष्टि गई? लोग पर्याय को निरखकर झट कह बैठते हैं कि यह जीव है। तो यहाँ उसकी व्यवहारनय की दृष्टि है। तो जैसे भेद में पर्याय में विशिष्ट रूप का परिचय होता है तो जब अभेदनय से देखेंगे तो आत्मा अपने आत्मा अपने गुणपर्यायों में एक स्वरूप है, यही ज्ञात होगा।

अभेदनय में आत्मपरिचय का प्रकार— देखिये— दृष्टि कितनी जल्दी मुड़ती रहती है और उससे हम कितनी जल्दी काम ले सकते हैं, जैसे लोग कहते हैं ना कि मन की गति सबसे अधिक तेज है। तेज से तेज हवाई जहाज भी जिस गति से चलता है क्या उससे भी अधिक? हाँ उससे भी अधिक। हवाई जहाज दिल्ली से कलकत्ता चार घंटे में पहुँचता है, लेकिन मन कहो इसी सेकेण्ड में कलकत्ता पहुँच जाय। तो कलकत्ता पहुँचने का अर्थ है कि वहाँ का विकल्प आ जाय, उसका ख्याल बन जाय। तो राकेट अथवा वायु की गति, प्रकाश की गति, जो जो भी गति तेज से तेज मानी गई हैं उनसे भी तेजगति मन की है और मन क्या है? वह एक दृष्टि ही तो है। तो दृष्टि की गति इतनी जल्दी चलती है यदि कहो किसी सेकेण्ड में भेदनय से आत्मा को देखा है तो उसी सेकेण्ड में आत्मा को अभेद भी देख ले। इतनी जल्दी परिवर्तन होता है। यह तो एक परिचय के सम्बन्ध का परिवर्तन कहा जहाँ इतने भी अन्तर वाला भाव होता हैं कि थोड़े समय में बहुत गंदा भाव हुआ और कहो उसी सेकेण्ड में उच्च भाव बन जाय। जैसे एक कथानक में कहा है कि जब एक राजा ने पूछा तीर्थंकर की सभा में कि अमुक मुनि की इस समय क्या गति होगी? तो वहाँ समाधान मिलता है कि

अभी अभी ही कुछ आध सेकेण्ड पहिले जो भाव था कि उस भाव में मरण होता तो नरक जाता और अब इस समय ऐसा भाव है कि इस भाव में मरण हो तो कल्पोत्तर विमानों में उत्पन्न हो। तो सेकेण्ड में ही इतना अधिक भाव का बदल जाना, दृष्टि का मुड़ जाना, वह दृष्टि के कारण सम्भव है। तो अभेदनय से आत्मा देखा जाय तो यह अपनी समस्त गुणपर्यायों में एक स्वरूप अभेद है।

नामनय से आत्मपरिचय— वस्तुस्वरूप का जब कथन करना होता है तो कुछ भी कथन करने के लिए नाम और संज्ञा सर्वप्रथम चाहिए। नाम के बिना कुछ भी व्यवहार नहीं बन सकता। तब ही तो चारों निक्षेपों में सबसे पहिले नाम निक्षेप का वर्णन है। व्यवहार ही किसी बात के बोलने के नाम से होता है। मान लो किसी पुरुष का नाम न हो अथवा किसी भी वस्तु का नाम न रखा गया हो तो उस वस्तु के बारे में कहा ही क्या जा सकता है और उपयोग भी क्या किया जा सकता है, इस कारण व्यवहार के लिए सर्वप्रथम नाम होता ही है। तो प्रत्येक पदार्थ नाम से कहा जाने योग्य है। कहा ही गया है। आगम में जो कुछ भी द्रव्य का वर्णन है, तीन लोक, तीन काल की अवस्थाओं का वर्णन है वह नाम बिना नहीं होता। तो आत्मा भी किसी नाम से कहा जाने योग्य है। आत्मा, ब्रह्म, जीव, चेतन आदिक किन्हीं भी नामों से कहो— नामनय से आत्मा किसी नाम से कहा जाने योग्य है। सहजसिद्ध सहस्रनाम स्त्रोत में आत्मा को 1008 नामों से कहा गया है। यह बात निर्णय में नामनय की दृष्टि में आती है।

स्थापनानय से आत्मपरिचय— नाम पदार्थ का रखा गया। अब उसके बाद यह बुद्धि होती है कि इस नाम वाला पदार्थ यह कहलाता है। तो देखिये— व्यवहार में स्थापना बतायी गई है यों कि जैसे मूर्ति में भगवान् की स्थापना करना— ये हैं शान्तिनाथ भगवान्, ये हैं अमुक भगवान्। तो इस उदाहरण में शान्तिनाथ भगवान् की मूर्ति अलग है, अन्य भगवान् की अलग हैं। सो भिन्न-भिन्न दो पदार्थों में स्थापना की यहाँ बात है, लेकिन यहाँ स्थापना इस प्रकार की बतायी जा रही है कि जैसे कहा— चौकी। तो 'चौ की' इसमें ये जो दो शब्द हैं इन दो शब्दों वाली चौकी इसका नाम है तो नाम की स्थापना में उस वाच्य चौकी वस्तु में की गई। जैसे भगवान् की स्थापना मूर्ति में की जाती है इसी प्रकार नाम की स्थापना पदार्थ में की जाती है। भला बतलाओ पदार्थ का पदार्थ की ओर से कोई नाम है क्या? जितने भी पदार्थ है चौकी, बैंच, अलमारी, चटाई आदि इनका कोई खुद नाम है क्या? अगर इन पदार्थों की ओर से इनका नाम हो तो जो इन चीजों से परिचित नहीं हैं वे भी इन चीजों को देखकर उसी नाम से बोल दें, पर ऐसा तो नहीं होता। इससे मालूम होता है कि नाम की बात पदार्थ में नहीं पडी हुई। सो स्थापना ही तो की गई है। यह नाम इसका है, इस प्रकार नाम की स्थापना पदार्थ में की गई है। तो द्रव्यनय से आत्मा किसी प्रकार वाच्य में प्रतिष्ठित किया जाता है। आत्मा वह है जो एक चैतन्यस्वरूप है, प्रतिभासमात्र है, अन्य सर्वपदार्थों से विलक्षण है, अनुपम है, समस्त पदार्थों में सारभूत है, उत्तम है। यह है आत्मा, यह है ब्रह्म, यह है चेतन। तो इन शब्दों के द्वारा वाच्य

जाना गया तो वाच्य पदार्थ में इस नाम की स्थापना की। तो स्थापनानय से यह आत्मा किसी भी वाच्य में प्रतिष्ठित किया जाता है। किन्हीं भी शब्दों द्वारा इस आत्मा पदार्थ में बुद्धि को लगा देने का नाम स्थापनानय है। स्थापनानय के बिना किसी का काम तो नहीं चल रहा। जहाँ ही नाम पड़ चुका बस वही स्थापना हो गई। चौ की— ये दो शब्द इस पदार्थ के वाचक हैं, इस प्रकार प्रतिष्ठा बन गई तो किसी शब्दों द्वारा कहा गया- आत्मा आत्मा में प्रतिष्ठा कराता है। उस शब्द की वाचकता भी स्थापनानय में निर्णीत ही तो है। नाम, स्थापनाद्रव्य, भाव— चार प्रकार के निक्षेप भी आखिर किसी दृष्टि से ही तो हैं, इनकी दृष्टियाँ बतायी जा रही हैं।

द्रव्यनय से आत्मपरिचय— द्रव्यनय से आत्मा का किस तरह परिचय मिलता है, सो सुनो। जब आत्मा का कुछ मध्यमरूप से अन्तरङ्ग वर्णन किया जाता है तो यही तो कहा जाता कि आत्मा अतीत अनागत समस्त पर्यायों के द्वारा जाना जाता है और उस जीव में अतीत पर्यायों का नाम लेकर बोलते हैं, भविष्य पर्याय का भी नाम लेकर बोलते हैं। जैसे कहते हैं कि कमठ ने पार्श्वनाथ पर उपसर्ग किया। अब बतलाओ जब पार्श्वनाथ थे तब कमठ कहाँ था? कमठ तो 5-7 भव पहिले था। लोग पार्श्वनाथ कथा में एक उपसर्ग का चित्र बनाते हैं, उसमें कमठ का भी चित्र उपसर्ग करता हुआ दिखा देते हैं और उस चित्र के नीचे लिख देते हैं ''भगवान पार्श्वनाथ पर कमठ का उपसर्ग'' लेकिन वह संगत कहाँ हुई? कमठ तो अनगिनते वर्ष पहिले हुआ था। तो द्रव्यनय से यह बात घटित होती है। कमठ नाम से जो उपसर्ग की बात बतायी गई वह द्रव्यार्थिकनय से बतायी गई। द्रव्यार्थिकनय भूत की या भविष्य की पर्यायों द्वारा वस्तु को जताता है। जीव तो वही है जो कमठ के भव में था। अब तो हो गया वह ज्योतिषीदेव। इस भव में भी वही जीव है, लेकिन यह सम्बन्ध बताने के लिए कि यह बैर कमठ के मन में आया था, तभी से उसने विरोध धारण किया था। इस कारण कमठ का ही नाम लेकर उसका परिचय कराया जाता है। तो यह वर्णन द्रव्यार्थिकनय से ज्ञात होता है। तो द्रव्यनय से आत्मा भूत भविष्य समस्त पर्यायों के द्वारा जाना जाता है। यह आत्मा हुआ कुछ विशेष घटना की बात में, जो अभी उदाहरण में कहा गया, लेकिन सामान्यतया आत्मा को बताते है तो भविष्य की पर्यायों में अगर 2-4 पर्यायें कम करें तो क्या पूरा आत्मा का परिचय बन जायेगा? उसके बाद क्या आत्मा नहीं है? तो भविष्य की समस्त पर्यायों से और भूत की समस्त पर्यायों से आत्मा जाना जाता है। इसमें अनादि और अनन्तपना सिद्ध होता है। द्रव्यनिक्षेप कहते उसे हैं कि जो भूत या भविष्य की पर्यायों द्वारा पदार्थ का परिचय कराये। जो पहिले कोतवाल था अब नहीं है, अब भी कोतवाल कहना अथवा जो कोतवाल बनेगा, अभी उसकी बात चल रही है, मंजूरी हो गई है, अभी कोतवाल बना नहीं, चार्ज नहीं लिया, फिर भी कोतवाल साहब कहते हैं। तो द्रव्यनिक्षेप से भूत भविष्य की पर्यायें जोड़कर पदार्थ को कहा जाता है। तो द्रव्यनिक्षेप एक द्रव्यनय की दृष्टि है। इस दृष्टि में आत्मा को कितना कहा जायेगा? अतीत समस्त पर्यायों में और भविष्य

समस्त पर्यायों में तो अतीत अनागत समस्त पर्यायों के द्वारा आत्मा के परिचय की बात द्रव्यनय में करायी जाती है।

भावनय से आत्मपरिचय— अब भावनय से आत्मपरीक्षण कीजिए। भावनय से आत्मा वर्तमान पर्यायमात्र है। भावनिक्षेप भावनय की दृष्टि में बनता है। भावनिक्षेप उसे कहते हैं कि वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को कहना। प्रत्येक पदार्थ क्या है, कैसा है? तो जो वर्तमान पर्याय है बस उससे तन्मात्र हो तो वह पदार्थ है। पर्याय से निराला पदार्थ और कहाँ पड़ा है, और प्रत्येक समय की पर्याय अपनी वर्तमान पर्यायमात्र है। उससे ज्यादा क्या है? यह तो मुक्ति से बताया गया है और परिचय में बताया जाता है कि पदार्थ अनादि अनन्त है। अनादि अनन्त तो है, पर जब कभी भी पदार्थ मिलेगा तब कहाँ मिलेगा? जो उसकी पर्याय हो रही हो उस पर्याय में मिलेगा। तो भावनय से आत्मा वर्तमान पर्यायमात्र है। जब क्रोध कर रहा है तब वह क्रोधमात्र है, जब शान्त है तो वह ऐसा है। जो आत्मा वर्तमान पर्यायमय है— इस प्रकार की जानकारी भावनय की दृष्टि में होती है।

सामान्यनय में आत्मपरिचय— दर्शनशास्त्र में कथन आता है कि आत्मा समस्त गुणपर्यायों में व्यापक है। इसका भाव यह है कि अनन्त गुण और अनन्त पर्यायों वाला उन सबमें व्यापने वाला आत्मा है। अनन्तगुणों में तो यह एक ही समय में व्याप रहा है और अनन्त गुणों की पर्यायें भी अनन्त ही हुई, इस प्रकार प्रति गुण की पर्याय निरखकर कह सकते हैं कि अनन्त पर्यायों में भी आत्मा व्यापी एक समय में है किन्तु भूत भविष्य की पर्यायों में व्यापकर आत्मा रहता है। इसका भाव यह है कि आत्मा काल में इतना लम्बा है अर्थात् अनादि अनन्त है। जो कि अनन्त पर्यायों में व्यापकर रहता है। तो आत्मा सर्वगुणपर्यायों में व्यापी है, इस प्रकार की समझ सामान्यनय में हुआ करती है। सामान्य दृष्टि से आत्मा को देखा ना। जैसा आत्मा, जो आत्मा उन सब अवस्थाओं में रहे, सबमें समान रहे उस समानता से आत्मा को निरखा तो यह ध्यान में आया कि यह तो सर्वगुणपर्यायव्यापी है। कुछ ही गुण मात्र हो, सो नहीं। जितनी शक्तियाँ है सर्वशक्तिमय आत्मा है और इसी प्रकार अतीत अनागत वर्तमान समस्त पर्यायों में व्याप कर रहा है। यह एक समय में व्यापकर रहने की बात नहीं कह रहे, यह अनादि काल से है और अनन्त पर्यायों में व्यापक है, यों आत्मा को सर्वव्यापक निरखना सामान्यनय की दृष्टि से होता है। सामान्यनय का एकान्त करके ही कोई ऐसा दर्शन बनता है जिसमें वर्णन आता है कि एक सत् ही है। सब कुछ अद्वैतवाद जितने भी बने हैं वे सब सामान्यनय के एकान्त में बने हैं। यदि एकान्त न किया जाय अर्थात् विशेष सापेक्ष सामान्य से निरखा जाय तो सामान्यनय में जो देखा वही प्रमाणभूत बन जायेगा। क्योंकि विशेष की अपेक्षा नहीं छोड़ी। जो लोग विशेष की अपेक्षा छोड़कर केवल सामान्यनय के आग्रह में वस्तु में सामान्यतत्त्व ही देखते हैं और उसकी ही हठ करते हैं तो वहाँ वस्तु का परिचय नहीं होता और अर्थक्रिया भी नहीं बनती, तब बंध मोक्ष की अवस्था भी

नहीं बनती, कल्याणमार्ग वहाँ रुक जाता है। तो आत्मा सर्वगुणपर्यायों में व्यापी है, यह सामान्यनय से निरखी गई बात है।

विशेषनय में आत्मपरिचय— अब विशेषनय में आत्मपरिचय किस ढंग में होता है? सो सुनिये। विशेषनय से जब आत्मा को देखा जायेगा तो वह किसी एक पर्याय में व्यापक है, यों विदित होगा। सर्वअवस्थाओं में व्यापी है, ऐसा तो सामान्य दृष्टि में ज्ञात होगा, पर विशेष दृष्टि में बस वर्तमान एक पर्याय में व्यापी है। बताओ कहाँ अब अतीत पर्याय में पदार्थ रह रहा और भविष्य में कहाँ रहा, जिससे इस नय में दृष्टि में उसे यह कह बैठें कि आत्मा भूत, भविष्य, वर्तमान सब पर्यायों में व्यापक है। यदि अतीत अनागत पर्यायों में व्यापक कहें आत्मा को और दृष्टि रखें विशेषनय की तो इसका अर्थ हो गया कि एक ही समय में अनन्त पर्यायें हो जानी पड़ेंगी, फिर आगे शून्य। तो विशेषनय की दृष्टि में यह कथन सत्य न बैठेगा कि आत्मा समस्त पर्यायों में व्यापक है, किन्तु इस दृष्टि में यह ही विदित होगा कि आत्मा एक पर्याय में व्यापी है और ऐसा प्राय: सुगमतया विदित हो जाता है, आत्मा किसी एक पर्याय में व्यापी है।

सर्वगतनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब बताते है कि सर्वगतनय से आत्मा कैसा है? आत्मा सर्वव्यापक है, यह कथन सामान्यतया बहुत से दार्शनिक लोग करते हैं। आत्मा व्यापक है। कितना व्यापक है, जिसकी कोई सीमा नहीं। यह बात यदि एकान्त आग्रह से कही जाय तब तो इसमें कोई हित की बात नहीं मिलती। जब सर्वगतनय की दृष्टि में कहा जाय तो इसमें तथ्य विदित होता है। बात सही है। ज्ञान की दृष्टि से आत्मा समस्त पर्यायों में रहने वाला है। ज्ञान कितना व्यापक है, यह बात ज्ञान की विशालता से मालूम होगी। सर्वपदार्थों में विशाल तत्त्व है ज्ञान। कितना विशाल है ज्ञान? जितनी यह दुनिया है, यह लोक है क्या उतना बड़ा ज्ञान है? आज का माना गया विश्व जितना है उतना ज्ञान है क्या? ज्ञान तो इससे भी बड़ा है। जो विश्व जाना गया उससे भी आगे जानने की कल्पना तो चलती है और कोई स्पष्ट ज्ञाता जानते भी हैं। आगम में जो वर्णन किया गया- लोकाकाश 343 घनराजू प्रमाण क्या इतना बड़ा ज्ञान है? इससे भी बड़ा है ज्ञान, क्योंकि ज्ञान में लोक को भी जान लिया और अलोक को भी जान लिया। तो क्या लोक और अलोक मिलाकर जो कुछ हो, क्या उससे भी बड़ा ज्ञान है? हाँ उससे भी बड़ा है। ज्ञान में यह सामर्थ्य बतायी गई है कि जो भी सत्पदार्थ हो वह ज्ञान में ज्ञात होता है। अब जो सत् है वह सब ज्ञान में आ गया। प्रभु के ज्ञान में सब आ गया और कल्पना करो कि जितने सत् हैं, अनन्तानन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य, असंख्यात कालद्रव्य, इनका ही समूह तो लोक कहलाता है। और उससे आगे जहाँ शेष 5 द्रव्य नहीं हैं, आकाश ही है वह कहलाता है अलोक। जितना यह लोक अलोक है उतना ही अगर और भी होता तो वह भी ज्ञान में ज्ञात होता कि नहीं? वह तो होता ही। ज्ञान में कोई बोझ नहीं बढ़ता कि यदि इतना जाना तो ज्ञान ठीक है और इससे ज्यादा बात ज्ञान में आयी तो बोझों से ज्ञान दब

जावे। जो जाननमात्र है, जो सत् है उसे जान लिया गया। उसमें बोझ की कोई बात नहीं होती। तब समझ लीजिए कि ज्ञान कितना बड़ा है। जो कुछ आज है इससे भी कई गुना होता कुछ तो वह भी ज्ञान में ज्ञात होता। तो देखिये ज्ञान ऐसा सर्वव्यापी है। बताया गया है कि जीव, पुद्‍गल, धर्म, अधर्म, काल, ये पदार्थ लोक से बाहर नहीं जा सकते, अलोक में इनका सद्‍भाव नहीं है, लेकिन ज्ञान यह अलोक में भी चला गया।

ज्ञान की सर्वगतता का मर्म— यहाँ यह समझना होगा कि ज्ञान तो परमार्थत: आत्मा में ही रहता है। आत्मा से बाहर नहीं जाता, लेकिन पदार्थ के विषय में ज्ञान किया, उसमें व्यवहार जानने का ही चलता है। जैसे यहाँ भी कहते हैं कि हमारा दिल उसमें है, हमारा ज्ञान उसमें है, तो इतना तक उसका ज्ञान चला गया। अब उसमें दृष्टान्त देते हैं प्रकाश का। जैसे दीपक का प्रकाश अभी जितना है उससे अधिक भी फैल सकता है। फैल गया, परमार्थत: वहाँ भी दीपक का प्रकाश नहीं उसमें फैला। जैसे दीपक प्रकाशमय पदार्थ है, वह विशेष प्रकाशमय है। तो ये घट, पट, बेन्च आदिक भी एक पदार्थ है और ये भी किसी अंश में प्रकाशमय हैं। भले ही इनका प्रकाश प्रकाशमान पदार्थ का सन्निधान पाकर और ढंग का व्यक्त हो पाता है। भले ही हों यह व्यक्त होने की विधि है, लेकिन जैसे सूर्य, चन्द्र, दीपक आदिक प्रकाश का स्वभाव रखते हैं वैसे ही प्रत्येक पदार्थ में प्रकाश स्वभाव से पड़ा हुआ है। वे स्वत: प्रकाशित हैं। उनमें इस विधि का प्रकाश पड़ा है। ये पदार्थ प्रकाशमान पदार्थ का निमित्त पाकर अपनी योग्यता के अनुकूल प्रकाश पाते हैं। इस तरह की विधि पडी हुई है। तो परमार्थ प्रकाश की भी यह बात है कि प्रकाश फैलता नहीं है, लेकिन व्यवहार तो यही रहेगा कि प्रकाश फैल गया। सुगमतया यह विदित होता है कि प्रकाश फैल गया। यों ही ज्ञान का व्यवहार है। ज्ञान फैल गया। जितने पदार्थों को जानता है उन पदार्थों में ज्ञान व्याप गया। तो ज्ञानदृष्टि में आत्मा समस्त पदार्थों में गया हुआ है, ऐसा निरखना सर्वगतनय में निरखना कहलाता है।

असर्वगतनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब असर्वगतनय की बात देखिये। असर्वगतनय में आत्मा आत्मप्रदेश में ही रहने वाला है। आत्मा कहाँ रहता है? अपने ही प्रदेशों में, ज्ञान कहाँ रहता है? अपने ही प्रदेशों में, अपने ही आधार में। परमार्थत: आत्मा का कोईसा भी गुण, कोईसी भी पर्याय आत्मप्रदेश से बाहर नहीं है। सभी पदार्थों की यही बात है। प्रत्येक पदार्थ की गुणपर्याय उस ही पदार्थ में व्यापकर रह सकती है और साथ ही यह बात है कि उस पदार्थ में एक देश में न रहेंगे। समग्र पदार्थों में समग्रगुणपर्यायें रहती हैं। पदार्थ जितना एक होता है उसको लक्ष्य में लेकर निर्णय करें तो गुणपर्याय पदार्थ में पूरे में रहते हैं। जैसे ज्ञानगुण। क्या यह कहा जा सकेगा कि ज्ञान आत्मा के ऊपर के हिस्से में है और नीचे के प्रदेश में ज्ञान नहीं है? भले ही कुछ समय ऐसा लगता है कि दिमाग से विचारा जाता है तो कुछ ऐसा लगता है कि ज्ञान मस्तक में है, परन्तु यह बात नहीं है। जैसे कि हाथ में फोड़ा हो जाय तो लगता यों है कि हाथ में बड़ी वेदना है। लेकिन हाथ में तो वेदना होती नहीं, क्योंकि हाथ चेतन नहीं। चेतन तो आत्मा है। तो लगता यों है

कि इस जगह के प्रदेश में वेदना है लेकिन यह बात नहीं है। आत्मा एक अखण्ड पदार्थ है और उसमें जो वेदना बनती है वह आत्मा के सर्वप्रदेशों में बनती है, किन्तु लगता क्यों है ऐसा यों कि उस वेदना का निमित्त वह फोड़ा है। तो उस समग्र आत्मा में होने वाली वेदना का निमित्त है हाथ का फोड़ा, तो निमित्त पर ही दृष्टि रहती है। तो इसका उपयोग वही केन्द्रित हो गया और यह जान रहा है कि वेदना इस जगह हो रही है। यदि ऐसे ही कुछ मन मस्तिष्क के निमित्त से ज्ञान प्रकाश होता है तो ऐसा लगता है कि इस जगह ज्ञान हो रहा, लेकिन एक देश में ज्ञान नहीं है। जितना आत्मा है अखण्ड उस समग्र में ज्ञानगुण है और उससे बाहर जरा भी नहीं है। तो यों असर्वगतनय से आत्मा का परिचय हुआ कि आत्मा अपने प्रदेशों में ही व्यापक है। ज्ञानादिक गुण इन्हीं आत्मप्रदेशों में व्यापक हैं, इनसे बाहर नहीं हैं। यों असर्वगतनय में असर्वगतपना निर्णीत होता है।

शून्यनय में आत्मपरिचय का प्रकार— शून्यनय में आत्मा का किस ढंग से परिचय होता है? यह बात अब बता रहे हैं। शून्यनय से तो सुगमतया सीधी बात यह विदित होती है कि आत्मतत्त्व समस्त परपदार्थों से और परभावों से शून्य है, रहित है, सूना है। जैसे लोग कहते हैं ना कि यह घर सूना है तो इसका मतलब है कि इस घर में लोग नहीं है। सिवाय घर के और कुछ नहीं है। तो यह आत्मा सूना है, इसका भी अर्थ यह होगा कि सिवाय आत्मा के यहाँ और कुछ नहीं हैं। कर्म शरीर अनेक वर्गणायें अन्य जीव कुछ भी तो तत्त्व इसमें नहीं हैं। यहाँ तक कि जिस आकाश में यह जीव रह रहा है वह आकाश भी इस जीव रह रहा है। जहाँ यह जीव है वहाँ छहों द्रव्य रह रहे हैं, फिर भी जीव में सिवाय स्वजीव के अन्य कोई द्रव्य नहीं है। शून्यनय से आत्मा का इस भाँति परिचय मिलता है।

शून्यनय की सम्यक् व मिथ्या पद्धति में शून्यता के दर्शन का दिग्दर्शन— शून्यनय के विषयों में दूसरी बात यह देखिये कि जब आत्मा का सही रूप में वर्णन होते होते ठीक इसके अंतस्तत्त्व पर पहुँचे तो वहाँ फिर यह विदित होने लगता कि बस कुछ नहीं। यह बात दो प्रकारों में देखिये— एक तो भले रूप में कोई विधिपूर्वक स्वानुभव के ढंग से आत्मा की बात निरखते हुए, आत्मा सूक्ष्म है, अमूर्त है, केवल ज्ञानमात्र है, जानन सिवाय यहाँ और कोई तत्त्व नहीं है, वह जाननभाव जो कि मूर्त नहीं, जिसमें रूपादिक नहीं, केवल जानन भाव है, ऐसे जानन भाव की ओर जब दृष्टि अधिक लग जाती है तो वहाँ निर्विकल्पता होती है। वह निर्विकल्पता भी शून्य दशा कहलाती है। दूसरी तरह यों निरखिये कि मान लो किसी वनस्थली में बहुत साधुजन जो कि कुछ दार्शनिक समझदार थे, बैठे हुए थे। वहाँ कोई आचार्य आत्मतत्त्व का प्रतिपादन कर रहे थे। स्याद्वाद विधि से ही कर रहे थे। आत्मा स्याद्अस्ति, स्याद्नास्ति, स्याद्नित्य, स्याद्अनित्य आदि और उनका बहुत कुछ वर्णन कर रहे थे। आत्मा के गुणों के प्रतिपादन में इसमें गुण अमूर्त हैं और गुण क्या है? वही आत्मा गुण के रूप में कहा जाता है। गुण में अनेक गुण बसे हुए हैं, फिर भी गुण में गुण नहीं होते, क्योंकि गुण का स्वरूप

निर्गुण है। भला बतलाओ ज्ञान में अगर सत्ता गुण न व्यापता हो तो ज्ञान कुछ भी रहेगा क्या? ज्ञान में शक्तिगुण न हो तो ज्ञान कुछ रहेगा क्या? एक गुण में अनेक गुण व्यापकर रहते हैं यह विभुत्वगुण का प्रसाद है, फिर भी गुण में गुण नहीं है, गुणों का आधार नहीं है, आदिक बहुत वर्णन चल रहे थे स्याद्वाद शैली से। अंतस्तत्त्व की बात सुनकर कुछ दार्शनिक इतने मस्त हो गए कि कुछ लोग जो कि किसी समय स्याद्वाद का आश्रय छोड़कर अन्त: चले तो उन्होंने देखा कि सब बात कपोलकल्पित हैं, कुछ भी नहीं। सारा तत्त्व तो यह है कि वह शून्य है। तो शून्यनय से आत्मा शून्य नजर आता है। और सीधी बात तो यह है आत्मा शून्य है। इसका अर्थ यह है कि आत्मा में केवल आत्मा है। इसमें कोई दूसरी चीज नहीं है।

शून्यनय में अवगत मर्म के परिचय बिना जीवों की विडम्बना— इस शून्यनय का आश्रय न करके मोहीजन दु:खी हो रहे हैं। मोही जीव यह समझते हैं कि मेरे में तो सब कुछ है। अरे एक अणु भी इस आत्मा का कुछ नहीं है। कोई भी जीव इस आत्मा का कुछ नहीं है। आज यदि लोगों का जमाव घर में हो गया है कुछ लड़के लड़की बहुवें नाम से रह रहे हैं तो क्या ये जीव आपके साथी हो गए? ये यदि आपके घर में न आये होते और ही कोई आये होते तो क्या ऐसा हो नहीं सकता था? तब फिर किसका कौन है? सर्वजीव स्वतंत्र हैं, अपने आपके आधीन हैं और अपने आपमें केवल अपने आप हैं, इसमें दूसरी वस्तु नहीं है। तो यों आत्मा को सूना निरखना चाहिए। यहाँ अर्थ अकेला से लेना। घर सूना, तो इसका अर्थ है कि घर में घर ही है, इसमें अन्य किसी चीज का अभाव है। आज तो पाठशाला सूनी है, दफ्तर सूना है, तो इसका अर्थ है कि केवल वही रह गया। दूसरा कुछ नहीं है। तो आत्मा सूना है अर्थात् आत्मा में आत्मा ही है, इसमें और कोई दूसरी चीज नहीं है। यों शून्यनय से आत्मा का परिचय होता है।

अशून्यनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब अशून्यनय से आत्मा का किस भाँति परिचय होता है इसे बताते हैं अशून्यनय से आत्मा अन्तरड्ग भावों से परिपूर्ण है, सूना इसमें कुछ नहीं है। अन्त: देखा तो बड़ा वैभव पड़ा हुआ है। आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। आत्मा में क्या सच्चा वैभव है— इसमें पारखी लोग कल्याण कर जाते हैं। और जिन्हें अपने आपके आत्मा में बसे हुए वैभव का परिचय नहीं हुआ है वे पर की आशा रखकर भिखारी बने रहते हैं। क्या वैभव है आत्मा में? वह वैभव है जो पूरा प्रकट हो जाय तो प्रभु हो जाय। प्रभु में और अपने में अन्तर क्या रह गया कि प्रभु में वैभव पूरा प्रकट है, पूर्ण ज्ञान है, पूर्ण आनन्द है और अपने में ज्ञान अपूर्ण है, याने पूर्ण विकसित नहीं है, आनन्द भी विकसित नहीं है, किन्तु इसके विपरीत धारायें चलती हैं।

ज्ञानानन्दवैभव के आधिपत्य का निर्णय— पहिले तो यह निर्णय करें कि हम आपमें ज्ञान और आनन्द है कि नहीं। कुछ दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि आत्मा में तो आनन्द है ही नहीं और ऐसा साबित करने के लिए

सच्चिदानन्द शब्द के तीन अर्थ करते हैं। सत्, चित् और आनन्द। सत् अंश तो सभी जीव हैं, चित् अंश ज्ञानी जीव हैं और आनन्द अंश भगवान हैं। यों तीनों अंश कर करके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीन रूप कर देते हैं। सत् तो बहिरात्मा में है, चित् अन्तरात्मा में है और आनन्द परमात्मा में है। इन तीनों का अर्थ यह निकलता है कि आनन्द तो प्रभु में है, प्रभु की भक्ति करते जावो तो वहाँ आनन्द मिल जायेगा क्योंकि हममें आनन्द है नहीं। जिसमें आनन्द है उसकी उपासना करें तो आनन्द मिल जायेगा। इस बात का स्थूलरूप से अर्थ देखना तो कुछ ठीक भी है। व्यवहार में ऐसा कहते हैं कि प्रभु की भक्ति में सब कुछ मिलता है। कैसे मिलता है कि भक्ति करने से पाप कटते हैं, पुण्यरस बढ़ता है और पुण्य के उदय में यह लोक का वैभव सब कुछ प्राप्त होता है और यदि प्रभु के ठीक सही स्वरूप की भक्ति हो गयी जैसा कि प्रभु का ज्ञान और आनन्द स्वरूप है, यदि इस तरह की दृष्टि हो गयी तो मोक्ष मार्ग मिल जायेगा, मुक्ति प्राप्त हो जायेगी। तो प्रभुभक्ति से सब कुछ मिलता है— यह बात ठीक जंची, आनन्द भी मिला, लेकिन जब वस्तुस्वरूप पर दृष्टि देते हैं तो यह एक नियम है कि जो बात जहाँ नहीं है लाख उपाय करने पर भी वह बात वहाँ आ नहीं सकती। जो बात किसी भी रूप में शक्तिरूप में, स्वभाव रूप में किसी भी ढंग में नहीं है वह कहाँ से आ सकती है? मगर जो बात नहीं है वह बात दूसरे में मिल जाय, जैसे कि जो लोग मानते हैं कि जीव में आनन्द नहीं है। आनन्द तो प्रभु में है और प्रभु से मिलेगा तो यों अगर बन जाय कानून की जो बात नहीं है, वह किसी अन्य से मिल जायेगी तो बालू में तेल किसी दूसरे से आ जाना चाहिये— कोल्हू से आ जाय, तेली से आ जाय, तिलों से आ जाय, किसी भी बाह्य पदार्थ से उस बालू में तेल आ जाना चाहिये। पर आ सकेगा क्या? उपादान में जिस परिणति की जो शक्ति नहीं है वह कितने ही प्रयत्न करके बाहर से नहीं आ सकती। हम आप सब जीवों में आनन्दगुण भरा हुआ है। अगर आनन्दगुण न होता तो सुख दु:ख भी नहीं आ सकते थे। इतना तो सामने विदित हो रहा है कि हम आप जीवों में सुख और दु:ख चल रहे हैं। ये सुख दु:ख किसके परिणमन हैं? ये आनन्द शक्ति के विपरीत परिणमन हैं। तो आनन्द गुण सर्वत्र है। तो आत्मा में वैभव है ज्ञान और आनन्द। अगर अपने वैभव की दृष्टिरूप अमृत का पान कर लिया जाय तो विषय-विषों से यह जीव दूर हो जायेगा और सदा के लिए इसका जन्ममरण छूट जायेगा।

संसारी जीव को मरण का महान् भय— यह जीव मरण से बहुत डरता है। इसके जो और दु:ख हैं वे सब दु:ख मरण के दु:ख से कम है। कभी-कभी तेज दु:ख में यह मनुष्य सोचने लगता है कि मेरा इष्ट गुजर गया, मुझे इसका क्लेश है, उससे तो अच्छा कि मैं ही गुजर जाता, लेकिन कदाचित् यह नौबत आ जाय कि खुद के मरने की बात आने लगे तो उसे अपना मरण पसंद न होगा। एक बुढ़िया बहुत परेशान थी। उसके बच्चे भी परवाह न करते थे। नाती पोते भी बहुत हैरान करते थे। सो वह इतना परेशान थी कि रोज-रोज वह भगवान से प्रार्थना करती थी कि हे भगवान मुझे उठा ले। एक दिन ऐसा हुआ कि एक सर्प निकल आया,

वह चिल्लाने लगी और अपने नाती पोतों को पुकारने लगी, अरे दौड़ो, बचाओ, सर्प निकल आया है...। उन नाती पोतों ने कहा- अरी बुढ़िया दादी, तू घबड़ा मत। तू रोज-रोज भगवान से प्रार्थना किया करती थी कि मुझे उठा ले, तो भगवान ने आज तेरी सुन ली है। तो अपना मरण किसी भी स्थिति में यह जीव नहीं चाहता। करणानुयोग के सिद्धान्त से सिवाय नरकगति के तिर्यञ्च, मनुष्य और देव वे कोई भी मरना नहीं चाहते। नरकगति के जीव तो भीतर से अपना मरण चाहते हैं कि मैं मर जाऊँ, पर और गति के जीव नहीं चाहते। इससे यह सिद्ध होता है कि नरक आयु पापप्रकृति है और बाकी तीन पुण्यप्रकृति हैं।

मरण से छुटकारा पाने का उपाय— मरण होता है तब जब इसका जन्म होता है, तो इसका मरण मिट जाय, जो मरण इसके लिए अनिष्ट है उससे छुटकारा मिले, यदि यह चाहिये तो पहिले यह ध्यान रखना होगा, ऐसा उपाय बनाना होगा कि मेरा जन्म छूटे। मेरे जन्म चलते रहेंगे तो मरण कैसे छूटेगा? जन्म छूटें, इसका उपाय क्या है? इसका उपाय यह है कि जन्म में जो बात होती हो उसके विरुद्ध चलने लगें। जन्म कहते हैं इस देह के मिलते जाने को। अब इसे जन्म न चाहिये, इसका अर्थ है कि देह और जीव का मिलाप न चाहिये। तो यदि देह और जीव का मिलाप न चाहिये तो उसके विरुद्ध सोचने लगे। होगा तो उसके विरुद्ध, किन्तु होगा यथार्थ। मैं देह से निराला हूँ, देह जड़ है। देह अनेक अपवित्र पदार्थों की खान है। इस देह में सार बात कुछ नहीं है। केवल एक हड्डियों पर मांस जरा अधिक चढ़ा हुआ है जिससे कि हड्डियाँ दिखती नहीं हैं। उन हड्डियों में मांस का लोथड़ जमा है और उस पर साफ चमड़ी चढ़ी हुई है तो वह कुछ सुहावना सा जँचता हैं। मगर है क्या वहाँ? महा अपवित्रता ही सारी भरी पड़ी हुई है। अगर इस शरीर के भीतर की चीज बाहर से दिख जावे तो वह देखी नहीं जा सकती, इतनी उसमें अपवित्रता है। और तो जाने दो, नाक से जरासी नकेऊ अगर निकल आये तो सुन्दरता खत्म हो जाती है। तो महाअपवित्र है यह शरीर। यह शरीर जड़ है, मैं चेतन हूँ। यह शरीर आनन्दविहीन है, में आनन्द स्वरूप हूँ।

शून्यनय के उपयोग की भांति अशून्यनय के उपयोग का प्रभाव— जब देह से निराले ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मा को निरखा जायगा तो उस समय तत्काल निरख लिया जायगा। जिस परिग्रह के लगाव से जीव के मोह से या अन्य किसी कारण से जो कुछ बेचैनी बसी हो वह भी समाप्त हो जायगी, और आगे का मार्ग भी शुद्ध हो जायेगा। वह समय निकट आ जायगा जबकि मुक्ति मिल जायगी। तो मुक्ति का उपाय चाहते हो तो शून्यनय की भांति अशून्यनय का भी उपयोग करिये। जैसे शून्यनय से देखा था कि आत्मा शून्य है, वहाँ और कुछ नहीं है, खालिस आत्मा ही आत्मा है, ऐसे ही अशून्यनय से देखो कि आत्मा खूब भरा पूरा है आत्मा ज्ञान और आनन्द से भरा पूरा है। उसमें ज्ञानानन्द का एक ऐसा उत्कृष्ट वैभव है कि उसमें दृष्टि जाये तो समझो कि हमने कोई सार बात पायी, रत्न पाया। उसको दृष्टि में लेने से सारी दीनता खत्म हो जायगी, कोई संकट न रहेगा। अशून्यनय से आत्मा ज्ञानानन्द से भरा पूरा नजर आता है।

ज्ञानज्ञेयाद्वैतनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब बतायेंगे कि ज्ञानज्ञेयाद्वैतनय आत्मा का परिचय किस भांति मिलता है? ज्ञानज्ञेयाद्वैत— इसका अर्थ है ज्ञान और ज्ञेय में अद्वैतपना रहना। वास्तव में ज्ञान जानता किसको है? अपने ही स्वरूप को, दूसरे को नहीं कह सकते हैं ऐसा कि भींत, चौकी, ईंट, पत्थर आदि हमने जाना। मगर ज्ञान ने जाना ना तो वह ज्ञान गुण किसका है? आत्मा का। तो ज्ञान गुण क्या आत्मा के प्रदेश को छोड़कर जाता है? कोई भी गुण अपने द्रव्य को छोड़कर बाहर नहीं जाता। तो ज्ञान तो आत्मप्रदेश से बाहर नहीं जाता। आत्मप्रदेशों से बाहर ज्ञान की क्रिया नहीं होती। आत्मप्रदेशों से बाहर जानना नहीं हो रहा, तब तो क्या हो रहा कि ज्ञान में एक ऐसी अद्भुत कला है कि जिसके प्रसाद से जो कुछ भी सत् है वह सब झलक जाता है। जैसे दर्पण के सामने अनेक पदार्थ रखे हैं। क्या दर्पण उन अनेक पदार्थों में जा जाकर उनका फोटो लेता है? दर्पण में ही दर्पण है। दर्पण में स्वयं ऐसी स्वच्छता और कला है कि जो भी समक्ष हो वह सब दर्पण में आ जाता है। जैसे दर्पण अपने आपमें अपनी जगह में रहते हुए भी अनेक पदार्थों की झलक अपने में करता है, इसी तरह आत्मा अथवा कहो ज्ञान, यह अपने ही स्थान में रहता हुआ अपनी कला से सत् पदार्थों की झलक अपने आपमें करता रहता है। तो वस्तुत: ज्ञान ने जाना किसको? अपने आपको। अपने आपको जानते हुए की स्थिति में ही यह व्यवस्था बन जाती है कि जिससे यह जीव यह कह उठता है कि मैने घर, लोग सबको जान लिया। जाना इसने बाहर में कुछ नहीं, मगर जो यहाँ झलका उस झलक के माध्यम से यह व्यवहार करते हैं कि हमने इन पदार्थों को जाना। जैसे एक मोटा दृष्टान्त लें। आप दर्पण लिए हुए बैठे हैं, पीछे दो चार लड़के खड़े हैं, तो आप पीछे कुछ नहीं देख रहे, केवल सामने दर्पण को देख रहे हैं और दर्पण को देखते हुए भी आप पीछे खड़े लड़कों द्वारा की जाने वाली हरकतों का बयान करते रहते हैं। देख तो रहे दर्पण को और बयान कर रहे हो उन लड़कों का, किन्तु दर्पण में वे सब झलक रहे हैं ना। इसी तरह से जान तो रहे आप ज्ञान को, झलक को और बता रहे दुनिया की बातें। तो परमार्थत: ज्ञान और ज्ञेय ये जुदे-जुदे नहीं हैं। उसका ही ज्ञान ज्ञेय बन रहा है। ज्ञान और ज्ञेय में एकरूपता है अतएव वह एक है।

ज्ञानज्ञेयाद्वैतनय के अवगम से प्राप्त शिक्षा— ज्ञान ज्ञेयाद्वैतमय है। वही ज्ञानरूप और ज्ञेयरूप होने से एक है। यह मैं आत्मा ही ज्ञानरूप हूँ और ज्ञेयरूप हूँ। देखिये— इस निर्णय में यह शिक्षा मिलती है कि जब मैं बाह्य पदार्थों को ही नहीं जान पा रहा हूँ याने बाह्य पदार्थों के साथ मेरा इतना सम्बन्ध भी नहीं है कि जानन का भी सम्बन्ध बन जाय, फिर बतलावो रागद्वेष का सम्बंध, कल्पना का सम्बन्ध ये सब कितने मिथ्या हैं? तो यह निर्णय होता है इस दृष्टि में कि यह मैं आत्मा ही ज्ञान हूँ और यह में आत्मा ही ज्ञेय हूँ। मेरा मेरे में ही सब कुछ है। ये भाव, प्रभाव, पर्याय, क्रिया, जानन, परिणमन कुछ भी मेरे से निराले नहीं हैं। सब कुछ मुझ रूप

ही है। मेरा इस कारण में मैं हूँ, ज्ञानमय हूँ और ज्ञेयमय हूँ। मुझमें जानने तक के माध्यम से भी भेद न पड़ेगा। मैं ज्ञान और ज्ञेय दोनों में अद्वैतरूप एक आत्मतत्त्व हूँ।

ज्ञानज्ञेयाद्वैतनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब बताते हैं कि ज्ञानज्ञेयाद्वैतनय में किस प्रकार दृष्टि बनती है? यहाँ ज्ञान और ज्ञेय इनको पृथक्-पृथक् देखा है। द्वैतभाव क्या है? इस नय में आत्मा चूंकि अनेक ज्ञेयरूप बन रहा है। सत्त्व सब झलक रहे हैं तो यह ज्ञान अनेकरूप बन गया। उस दृष्टि से यह ज्ञान अनेकरूप है, आत्मा अनेकरूप है। देखिये- अद्वैतपना तो इसमें था कि यह ज्ञान जानता किसको है? खुद को। और जब इस नय में यह बता रहे हैं कि भले ही ज्ञान ने जाना खुद को, यहाँ भी बाह्य ज्ञेयों की अनेकता को अनेकता नहीं बता रहे, क्योंकि बाह्य ज्ञेयों का सम्बंध है। जाना इस जीव ने अपने आपको, मगर वह झलक कितने ढंग की हुई? जितने सत् हैं उतनी ही झलक है। तो अनेक ज्ञेयाकाररूप बन जाने से यह ज्ञान अनेकरूप है। यह आत्मा अनेकरूप है। मैं हूँ खुद, एक हूँ और अनेक हूँ, एक यहाँ यह बात तो स्पष्ट है। अनेक हूँ, यह कथन इस दृष्टि में है कि मैं आत्मा अनेक सत्पदार्थों के आकार की झलक वाला हूँ। जितनी झलक है, जितने प्रतिभास हैं उनको दृष्टि में रखकर देखा जाय तो कहा जायगा कि यह ज्ञान अनेकरूप है। ज्ञान और आत्मा में भेद नहीं है। केवल एक निरखने के लिए स्वभाव और स्वभाववान का भेद किया गया है, तो जब उन झलकों पर दृष्टि देते हैं तो यह ज्ञान अनेकरूप है और पहिले यह दृष्टि दी थी कि ज्ञान ने जाना अपने को ही इसलिए वह एकरूप है, जाना अपने को ही, मगर वे झलकें नाना है। उन नाना झलकों की दृष्टि से यह अनेकरूप है। इन्हीं दृष्टियों का कोई यदि एकान्त कर लेता है तो विभिन्न दर्शन बनते हैं। द्वैतज्ञान में भिन्न भी माना और उसे एकपन भी माना, ये दो बातें एक साथ कैसे घटित हुई? तो उनको घटित किया अपने ढंग से जो युक्ति से नहीं उतरती। यदि उनको इन नयों में घटित किया जाय तो ज्ञान ज्ञेयाद्वैत या अद्वैत है और ज्ञान ज्ञेयाद्वैतनय से भिन्न है। लो वहाँ भी सिद्धान्त बन गया। अन्य दार्शनिक भी यदि स्याद्वाद जैसे ढंग को उत्पन्न कर देंगे वह ढंग उनके स्वयं के वश का नहीं है, फिर स्याद्वाद का सभी सिद्धान्तों में समन्वय और वस्तु में यथार्थस्वरूप का परिचय कराने की तो अनुपम कला भरी ही है।

नियतिनय में आत्मपरिचय का प्रकार— आत्मा चैतन्यस्वभावमात्र है, ध्रुव है। आत्मा में चैतन्यस्वभाव अनादिकाल से है और अनन्त है। यहाँ यह बात ध्यान में रखना कि ऐसा नहीं है कि आत्मा कोई पदार्थ है और उसमें चैतन्यस्वभाव रखा गया है। आत्मा ही चैतन्यस्वभावमात्र है। जो वस्तु होती है उसका कोई न कोई स्वभाव होता ही है। स्वभाव बिना वस्तु नहीं रहती। कुछ भी पदार्थ है, उसमें कुछ तो है। उसका परिणमन तो होता है तो स्वभाव उसका अवश्य है। ऐसा स्वभाव आत्मा में चैतन्य है, ध्रुव है और वह सदैव एक समान है, नियत है। आत्मा का चैतन्य स्वभाव न कभी कम होता, न कभी उसमें कोई परिवर्तन होता। जो वस्तु जैसी है वह वैसी ही रहती है। जैसे एक मोटा दृष्टान्त लो। कोई सोने की डली है वह अगर कीचड़ में गाड़ कर रख

दी जाय, उस पर कितना ही मल चढ़ जाय, फिर भी वह सोना अपने में सही है। उसमें फर्क नहीं आता। यद्यपि यह दृष्टान्त कोई दृष्टान्त की पूरी बात बताने के लिए नहीं है, क्योंकि सोना खुद पर्याय है, वह पदार्थ नहीं है, पर एक स्थूलरूप में समझाने के लिए कह रहे हैं। अब प्रकृत बात देखिये- आत्मा निगोद हुआ, निष्कृष्ट अवस्थाओं में अनन्त काल तक रहा, तिस पर भी यह अनादि से चैतन्य स्वभावमात्र है और सदा के लिए चैतन्यस्वभाव ही रहेगा। तो यह आत्मा नियतिनय स्वभाव वाला है, यह बात नियत से परखी जा रही है।

नियतस्वभाव में आत्मा को निरखने का प्रभाव— आत्मा नियत है अर्थात् जो स्वभाव है उस रूप ही आत्मा रहता है, रहेगा। यों आत्मा को नियत स्वभावमात्र निरखने में हमें बड़ा बल मिलता है। हम अपनी प्रतीति जब चैतन्यस्वभावमात्र की करते हैं कि मैं यह हूँ, इतना हूँ, नियत हूँ, मेरे में कोई घटा बढ़ी परिवर्तन नहीं होता है, जब मैं इस प्रकार अपने आपमें नियतपना से निरखता हूँ तो अशान्ति आकुलतायें ये सब दूर भाग जाती है। मैं तो एक चैतन्यस्वभावमात्र हूँ। उसका क्या बिगाड़? उसका यहाँ कुछ बिगाड़ नहीं। बाह्यपदार्थ वे अपने स्वभावरूप हैं वे पदार्थ चाहे घटा बढ़ी कैसी ही स्थिति हो, धन नष्ट हो जाय अथवा किसी का वियोग हो जाय या देह की कैसी ही स्थिति हो जाय, मुझ आत्मा का कुछ बिगाड़ नहीं, क्योंकि मैं आत्मा एक नियत चैतन्यस्वभावरूप हूँ। यह तो जीवों के बड़ा अंधकार छाया है। जो इस चमड़े की आँखों से बाहर निरखकर परखा करते हैं कि यह मेरा है कुछ। अरे सभी पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता को लिए हुए हैं। किसका कौन है? किसी भी अणु का दूसरा कुछ नहीं हैं। किसी भी जीव का कोई दूसरा जीव कुछ नहीं है। मैं मैं ही हूँ। मेरा कहीं कुछ नहीं है, तथा यह मैं एक नीयत चैतन्यस्वभावमात्र हूँ। किसी ने अपमान कर दिया, किसी ने गाली दे दिया तो मैं मानता हूँ कि मेरा बिगाड़ हो गया। पर मेरा क्या बिगाड़ हुआ? मैं तो चैतन्यस्वभावमात्र हूँ। बिगाड़ मानते हैं वे जिनको पर्याय में मोह लगा हो। तो मेरा कहीं कुछ बिगाड़ नहीं है। मैं सदा नियत चैतन्यस्वभावमात्र हूँ।

नियतस्वभाव से अपरिचित मोहनिद्रान्ध जीवों की विडम्बना— लोग निरखते हैं कि ये सब लोग मुझे क्या समझते हैं अथवा किसी ने अपमान किया तो यह दर्द इस बात का मानता है कि ये लोग मुझे बड़ा तुच्छ समझते होंगे। तो ये सब दृष्टियाँ मोहांधकार में चलती हैं। यहाँ का यह वैभव भी क्या है? कुछ नहीं। जैसे स्वप्न आया और स्वप्न में देखा कि हम रत्न जवाहरात की खान में पहुँच गए। वहाँ अनेक रत्न पड़े हैं। वहाँ यह स्वप्न देखने वाला खुश हो रहा है। वाह मुझे बड़ा लाभ मिला, मैं तो खूब धनी हो गया। अरे लाभ क्या मिला? वह तो सो रहा है, अचेत है। वह तो स्वप्न की बात है। वहाँ है कुछ नहीं। तो ऐसे ही समझिये कि जो मोह की नींद में सो रहा है, मोह में जैसा ही उपयोग बना रहा है, उसकी यह जानकारी बन रही है कि मेरा इतना बड़ा परिवार है, पर वहाँ इसका है क्या? शरीर भी इसका नहीं है। इससे भी न्यारा वह चैतन्य स्वभावमात्र है। जब यह दृष्टि जगती है कि मैं चैतन्यस्वभावमात्र हूँ, मेरे में परिवर्तन नहीं होता, मैं चेतन ही

रहता हूँ, अचेतन नहीं बनता, तब उसे तृप्ति होती है, उसका कहीं कुछ बिगाड़ नहीं हो सकता। में सदा स्वरक्षित हूँ। यह मेरे चैतन्यस्वरूप का किला इतना मजबूत है कि इसमें कोई दूसरी वस्तु का प्रवेश भी नहीं हो सकता। बिगाड़ तो क्या नियतनय से जो इसने अपना नियत चैतन्यस्वभाव समझा उस रूप प्रतीति करने में इसका मोक्षमार्ग स्पष्ट प्रकट होता है।

अनियतिनय में आत्मपरिचय का प्रकार— यह आत्मा नियत चैतन्यस्वभाव वाला होने पर भी हो तो रहा है इसमें नाना प्रकार का परिणमन, कभी मनुष्य बनता, कभी तिर्यञ्च बनता, पशु बनता, क्रोध, मान वाला बनता, कभी कुछ इच्छा करता- नाना प्रकार की बातें बनती रहती हैं। यह कोई झूठ नहीं है, हो रहा है, पर्यायें हैं, फिर ये पर्यायें आयी तो कैसे आयी? इसका समाधान यह है कि इस आत्मा में विभावरूप परिणमने की शक्ति है। जीव और पुद्‌गल यह विकाररूप उल्टा भी बन जाता है। तो इसमें इस प्रकार के अनियतपने का स्वभाव भी पड़ा है। क्योंकि विकार एक किस्म के नहीं होते। क्रोध की स्थिति हुई, मान की हुई, नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव इन गतियों की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं और भिन्न-भिन्न समय में होती हैं वे स्थितियाँ यह सिद्ध करती हैं कि आत्मा में अनियतस्वभाव भी पड़ा हुआ है। देखिये— यह बात इतने शब्दों से जाहिर हो जाती है कि द्रव्य परिणामी होता है, आत्मा भी परिणामी होता है। तो जो परिणामी है वह तो है नित्यस्वभाव वाला और जो परिणमन होता है उस दृष्टि से है वह अनित्यस्वभाव वाला, यों आत्मा अनियतस्वभाव विदित होता है। तो यह आत्मा अनियतिनय से अनियत स्वभाववाला प्रतीत होता है। जब हम इसके नियतस्वभाव पर दृष्टि दे रहे थे तब यह विदित हो रहा था कि यह मैं आत्मा चैतन्यस्वभावमात्र हूँ। अब जबकि आत्मा के इन परिणमनों पर दृष्टि दे रहे हैं तो जहाँ नाना विकार प्रतीत हो रहे हैं वहाँ इस तरह विदित होता है कि आत्मा में अनियतस्वभाव भी पड़ा हुआ है अर्थात् अनियत विभिन्न नानारूप परिणमन का स्वभाव भी पड़ा हुआ है। तो अनियतिनय से यह अनियत विदित हुआ।

प्राकरणिक नियत और अनियत शब्द द्वारा वाच्य अर्थ— कुछ भाई लोग नियत और अनियत के सम्बन्ध में विवाद भी करते हैं कि जो भी पर्याय होनी है वही होगी, इसलिए यह नियत कहलाता है। पर यहाँ नियत और अनियत से अर्थ यह नहीं लेना है। यहाँ अर्थ लेना है कि आत्मा में जो स्वभाव है वही रहता है, उसकी बदल नहीं होती। आत्मा आज चैतन्य है तो कल जड़ बन जाय, यह नहीं हो सकता। चाहे कितनी ही स्थितियाँ गुजरें आत्मा चैतन्यमात्र ही रहा था, रहता है, रहेगा, उसमें परिवर्तन नहीं होता, ऐसे आत्मस्वभाव नियत है। इस नियतस्वभाव आत्मा को अनियतिनय से देखिये— जब इस ओर दृष्टि देते हैं कि आत्मा में परिणतियाँ तो विभिन्न प्रकार की हो रही हैं। यद्यपि आत्मसम्बन्ध से कुछ परिस्थितियाँ पौद्‌गलिक भी चल रही है तो भी आत्मा में स्वयं का जो विपरीत परिणमन है वह तो स्वयं का परिणमन है, वह पुद्‌गल का नहीं। जैसे इच्छा हुई, क्रोध हुआ, मान, माया, लोभादिक हुए, नाना विचार चले तो ये परिणमन किसके हैं?

पुद्‌गल के नहीं, जीव के हैं। तो जीव में ये नाना विभिन्न परिणमन प्रतीत हो रहे हैं, तो विदित होता है कि आत्मा में ऐसा भी स्वभाव पड़ा है कि यह विभिन्न नाना परिणमनों में भी परिणमता रहे। यह बात आयी है वैभाविक शक्ति के कारण। तो अनियतिनय से आत्मा अनियत स्वभाववाला है अर्थात् नाना समयों की नानारूप पर्यायों से परिणमते रहने की इसकी प्रकृति है।

स्वभावनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब ऊपर जो दो नय बताये गए हैं नियतिनय और अनियतिनय, उनसे ही सम्बन्ध रखने वाले दो नयों की बात और कहते हैं— एक स्वभावनय और एक अस्वभावनय। यदि इन नयों से इनका नाता जोड़ा जाय तो स्वभावनय का मेल है नियतिनय से और अस्वभावनय का मेल है अनियतिनय से। स्वभावनय की दृष्टि से आत्मा स्वत:सिद्ध है। आत्मा का जो स्वभाव है, जो नियत है, चैतन्यमात्र है वह चैतन्यमात्र स्वभाव कब से हुआ है? किससे हुआ है? तो इसका उत्तर यह मिलेगा कि अनादि से है और अपने आप है। चैतन्य का स्वभाव किसी अन्य पदार्थ की कृपा से नहीं हुआ करता। उसमें उसका अपना स्वत:सिद्धस्वभाव है। आत्मा में जो चैतन्यस्वभाव है वह कहाँ से आया? अरे कहाँ से आया? यह प्रश्न उठाने की गुंजाइश भी तब थी जब कि आत्मा पहिले से हो और स्वभाव उसके बाद आया हो। तब तो कहा जाय कि आत्मा में यह स्वभाव किसकी कृपा से आया है? अरे स्वभावमात्र ही तो वस्तु है, चैतन्यस्वभाव ही तो आत्मा है। आत्मा का चैतन्यस्वभाव आत्मा के साथ है, सहज है। सहज कहते उसे हैं जो साथ ही उत्पन्न हो, साथ ही जिसका अस्तित्त्व हो। आत्मा के साथ ही चैतन्यस्वभाव है। जब से आत्मा है तब से चैतन्यस्वभाव है। अनादि से आत्मा है, अनादि से ही चैतन्यस्वभाव है। तो यह चैतन्यस्वभाव स्वत:सिद्ध है, स्वभावनय की दृष्टि में यह विदित हुआ।

स्वभावनय के अवगम का प्रभाव— जो स्वत:सिद्ध होता है वह अनादि अनन्त होता है। जो अनादि अनन्त स्वत:सिद्ध है वह नियत हुआ करता है। जो नियत अनादि अनंत स्वभाव है वह अपने ही सहायपर होता है, किसी दूसरे की सहायता पर नहीं होता। स्वभाव स्वसहाय है, यह बात तो निश्चित ही है। इसका कथन भी क्या करें लेकिन परिणमनों पर ही जब दृष्टि देते हैं तो परमार्थदृष्टि से निरखने पर परिणमन भी अपने आपसे सिद्ध होता है। किसी दूसरे पदार्थ से परिणमन नहीं आता। तब फिर स्वभाव की बात स्वसहायता में दृढ़ ही है। आत्मा का चैतन्यस्वभाव स्वत:सिद्ध है। स्वभावनय की दृष्टि में आत्मा का परिचय इस प्रकार होता है, मैं स्वभावमात्र हूँ, अन्यरूप नहीं, अमुक लाल, अमुक चंद, अमुक परिवार वाला, इज्जत वाला, जैसा कि कुछ लोगों ने अपने आपको मान रखा है उन उपाधियों रूप मैं नहीं हूँ, मैं एक स्वभावमात्र हूँ- यह श्रद्धा जब दृढ़ होती है और इस ही रूप जब अपना अन्त: आचरण होने लगता है, ऐसा ही जब उपयोग बना रहता है तो उसकी दुनिया अलौकिक होती है। जिसको तृप्ति, शान्ति, संतोष, कल्याण सब कुछ प्राप्त हो गया है वही

आत्मा पूज्य है, महान् है, आदर्श है। यही वास्तविक पुरुषार्थ है। स्वभावनय की दृष्टि से निरखने पर हमें अपने आपके अलौकिक वैभव की प्राप्ति होती है।

अब अस्वभावनय से आत्मा को देखा तो विदित हुआ कि जो आत्मा जिस योग्य है उसका जैसा उपादान है उस अनुकूल जैसा निमित्त प्राप्त होता है उस निमित्तयोग से यह आत्मा उस प्रकार से संस्कृत हो जाने वाला है। आत्मा मलिन पर्यायों में है, मलिन परिणमनों के योग्य है, पर आत्मा में तो ये कषायादिक कर्म के उदय के निमित्त में यह अपने आपको क्रोधी बनाता, मानी, मायावी बनाता, नानारूप अपना परिणमन बनाता। तो यह संस्कार कैसे बना, यह बात परिणमन कैसे बना? मालूम होता है कि इस स्वभावरूप तो आत्मा नहीं है, मगर बन गया। कषाय करने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। मगर कषाय होती नहीं क्या, आत्मा में होती है। तो स्वभाव न होने पर भी कषायपरिणमन होते हैं। यह अस्वभावनय बतला रहा है। जो स्वभाव नहीं है उस रूप भी परिणमन होता है। इस प्रसंग में यह बात ध्यान में रखने की हैं कि इस अस्वभावनय की सीमा लांघकर उपयोग न होगा। जैसे आत्मा का स्वभाव रूप, रस, गंधादिकरूप बनना भी नहीं है। तो वे भी हो जायें, आत्मा में ऐसा नहीं हो सकता। अपनी जाति का उल्लंघन न करके विकार में रहेगा। अपनी जाति का, स्वभाव का उल्लंघन न करके पदार्थ विकाररूप परिणमा करता है। देखिये— स्वभावनय और अस्वभावनय, इन दोनों नयों के होने से यह व्यवस्था बन रही है। जब यह कहा जायगा कि अस्वभावनय से आत्मा स्वभावनय से बाहर बन जाता है, कषायादिकरूप परिणमन जाता है तो स्वभाव से जब बाहर बन गया यह तो रूप रस भी तो स्वभाव नहीं, उस रूप बन जाय तो स्वभावनय आकर इस उद्दण्डता को खत्म कर देता है। स्वभावनय कहता है कि आत्मा चैतन्यस्वभाव है तो यह मूर्त, अचेतनस्वभावरूप न बन सकेगा। तब एक शब्द में कहा जाय तो क्या बात कही गई कि यह स्वभाव ही तिरोहित होकर कुछ विकाररूप परिणमन कर रहा है। तो विकार परिणमन सीमा में ही तो होगा। किसका विकार परिणमन? जिसका विकार परिणमन है उसकी ही सीमा में तो विकार चलेगा। अन्य विपरीतरूप तो न हो जायेगा? चैतन्यस्वभाव में विपरीत रूप, रस, गंध आदि नहीं हो सकते। वे तो अन्य हुए। अन्य में और विकार में अन्तर है। अन्य होता हैं बिल्कुल पृथक्, जिसका द्रव्य भी पृथक्, जिसका क्षेत्र भी पृथक्, बात भी पृथक्, परिचय भी पृथक्। और विकार होता है लगाव में। जैसे यह मित्र विकृत हो गया तो मित्र भी है और कुछ पृथक् भी है, उस स्थिति में ही तो कहा जायगा कि मित्र विपरीत है, और जब इतना हो गया कि वह मित्र भी न रहा, जरा भी बात न रही, विपरीत क्या रहा? वह अन्य हो गया, जैसे कि और लोग हैं। तो अस्वभावनय में जो विकार की बात आती है वह सीमा को लांघकर नहीं आ सकती। तो जो आत्मा जिस योग्य है, उसमें जैसी उपादान शक्ति है उसके अनुकूल निमित्त के योग में नाना विकाररूप से परिणमता है। यह बात अस्वभावनय से विदित होती है।

कालनय से आत्मपरिचय का प्रकार— अब बतलाते हैं कि कालनय से आत्मा किस प्रकार है? कालनय इसका सम्बन्ध समय से है। इस नय में यह दिख रहा है कि आत्मा अपने अपने काल की प्राप्ति होने से फल पाता है, सिद्धि पाता है, परिणमन पाता है। लोक में जैसे कहते हैं ना कि जब समय आयेगा तब काम बनेगा। जब जिस पर्याय का समय आयेगा उस समय वह पर्याय बनेगी। और बात भी यह एक दृष्टि में यथार्थ है। कोई भी परिणति अपने समय पर बनती है। कल जो होगा, सो कल होगा जब जो होगा। तो अपना अपना काल प्राप्त होने पर सिद्धि होती है। काललब्धि की बात मुख्यतया मोक्ष के मार्ग में कही जाती है। जब काललब्धि होगी तब सम्यक्त्व मिलेगा, मोक्ष होगा, याने जब समय आयेगा तब मोक्ष होगा। एक नियम है कि जब जीव का संसार कुछ कम अर्द्धपुद्‌गल परिवर्तन रह जाता है तब जीव सम्यक्त्व पाने के योग्य होता है। जब इस बात को कोई यों घटायें कि जब जीव सम्यक्त्व पाने के योग्य हो रहा है तब के बाद उसका काल कुछ कम अर्द्धपुद्‌गल परिवर्तन से अधिक नहीं रह सकता। तो वहाँ काललब्धि की बात आयी। तो अपने-अपने काल पर अपनी सिद्धि प्राप्त होती है। यह दर्शन बनता है कालनय की दृष्टि में।

विवक्षित दृष्टि के विषय को उस ही दृष्टि से निरखने में विवाद का अनवसर— जिस दृष्टि में जो बात है वह बात उस दृष्टि में ही लेना। यदि उसका एकान्त कर लिया जाय कि जिस समय जो पर्याय होनी है सो होती ही है, उसमें दूसरे का क्या सम्बन्ध? निमित्त भी कुछ नहीं है। जब जो होना है सो होता है और जब कोई उन्हें तंग करे तो फिर निमित्त शब्द ही शास्त्रों में क्यों आया? और निमित्त की इतनी चर्चायें क्यों आती? तो उत्तर वे देते हैं कि जिस समय जो परिणमन होता है उस समय जो सामने हाजिर हो उसको निमित्त कह डालते हैं और तब फिर यों प्रश्न किया जाता है कि कार्य के समय तो हाजिर बहुत-सी चीजें हैं। घड़ा बनने के समय ही कुम्हार भी है, गधा भी है, घोड़ा, बकरी आदि भी खड़े हैं, और भी बहुत से दर्शक लोग भी खड़े हैं वे तो निमित्त नहीं पड़ते हैं। तो कहते हैं कि सामने जो हाजिर हैं उनमें जो अनुकूल निमित्त हों उन्हें निमित्त कह देते हैं। तो पूछते हैं कि भाई अनुकूल शब्द का अर्थ ही क्या हुआ? बात जो तथ्य की है उसको माने बिना गुजारा न चलेगा। अरे अनुकूल का अर्थ ही यह है कि जिस निमित्त सन्निधान को पाकर पदार्थ जिस प्रकार परिणम सकता है उसे पाकर पदार्थ उस रूप परिणम जाय। यह ही तो अनुकूलता की बात है। तो कालनय की दृष्टि में जितनी बात देखी जाती है उतनी ही बात समझी जाय तो विवाद नहीं, पर उससे बाहर की बातें भी करें और दृष्टि बनाये रहें कालनय की तब उसमें विवाद जगता है। कालनय की दृष्टि में तो मात्र इतना ही विदित हो रहा है कि काललब्धि से यह आत्मा अपने काल में सिद्धि पाने वाला है। बस इतना ही कालनय में निरखना चाहिये। बाकी विषय तो युक्ति के हैं, निर्णय के हैं। निमित्त क्या, उपादान क्या? कैसे परिणमन होता है, उन सब बातों को इसमें न लपेटकर काललब्धि से सिद्धि होती है, केवल इतनी बात कालनय से समझना।

अकालनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अकालनय से आत्मा का परिचय किस प्रकार होता है? अब यह बात कह रहे हैं। अकालनय का अर्थ है- काल नहीं, ऐसी दृष्टि। अकालनय से यह आत्मा समय की आधीनता बिना सिद्धि प्राप्त करता है। यद्यपि समस्त पदार्थों के परिणमन में काल निमित्त होता है इतने पर भी परिणमनों को देखा जाय तो काल का परिणमन काल में है और पदार्थ का परिणमन पदार्थ में है। पदार्थ का परिणमन समय की आधीनता बिना हो रहा है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी परिणति से ही परिणमता है। किसी की परिणति से किसी अन्य पदार्थ की परिणति की आधीनता नहीं होती। तो यों आत्मा समस्त परिणमनों में चाहे शुद्ध परिणमन हो अथवा अशुद्ध परिणमन हो, प्रत्येक परिणमनों में समय की आधीनता बिना ही परिणम रहा है। यों इस अकालनय से देखने पर वस्तु की स्वतंत्रता का भान होता है और फिर किसी वस्तु का किसी वस्तु के साथ नाता नहीं दिखता, और जब सम्बन्ध नहीं दिखता तो मोह का विनाश हो जाता है तो मोह के विनाश का उपाय मिलता है इस नय में कि मैं अपने आत्मा को देखूँ कि परिणमनस्वभाव के कारण यह अपने आपमें अपनी परिणति से परिणमता है, अन्य निमित्त अथवा अन्य द्रव्य की आधीनता की तो कथा ही क्या करें? जो सर्वपदार्थों के परिणमन में साधारणरूप से निमित्त होता है, ऐसे काल की भी आधीनता बिना यह मैं परिणमन किया करता हूँ।

पुरुषकारनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब पुरुषकारनय से आत्मा का परिचय कराया जा रहा है। आत्मा जब-जब जिन-जिन सिद्धियों को प्राप्त करता है उनको यह अपने पुरुषार्थ से प्राप्त करता है। पुरुषार्थ क्या? जो परिणमन का साधन है अभेद दृष्टि में स्वयं स्वयं के परिणमन का साधन है ऐसे अभिन्न निजसाधन द्वारा, निजपरिणति द्वारा, निजशक्ति पौरुष द्वारा परिणमन किया करता है। पुरुषकारनय से यह आत्मा जिस-जिस रूप भी परिणम रहा है वह अपने पौरुष से परिणम रहा है। किसी अन्य पदार्थ के श्रम से या साधन से कोई कुछ नहीं परिणमता है। तो पुरुषकारनय से यह आत्मा अपने आपमें अपने ही साधन से परिणम रहा है और विशेषतया आत्मसिद्धि की ओर जब दृष्टि दी कि आत्मा को जो प्राप्ति, मुक्ति, सिद्धि, उपलब्धि होती है उसमें क्या कोई भाग्य काम करता है या अन्य का पौरुष? तो उसका उत्तर इस नय में स्पष्ट मिलता है। मोक्ष भाग्य से नहीं मिलता, किसी अन्य जीव के पौरुष से नहीं मिलता, किन्तु जीव स्वयं अपने आपमें अपना पौरुष करे तो उसे मुक्ति प्राप्त होती है। अपना पौरुष क्या? आत्मा जिस स्वभावरूप है उस स्वभावरूप में श्रद्धा होना, उस स्वभावरूप में ज्ञान होना और उसी स्वभावरूप में आचरण होना, बस इस दर्शन, ज्ञान, आचरण के महान् पौरुष से आत्मा को मुक्ति की प्राप्ति होती है।

मुक्ति का अर्थ और पुरुष— मुक्ति का अर्थ है छुटकारा। किससे छुटकारा पाना? परभाव से, परपदार्थ से, देह से, कर्म से, कषायों से छुटकारा पाने का नाम मुक्ति है। तो छुटकारा तब ही मिल पायेगा जब कि यह श्रद्धा में आये कि मैं देह, कर्म, कषाय आदिक से निराला, अनादि अनन्त चैतन्य स्वभावमात्र हूँ, यह श्रद्धा में आये

और इसी प्रकार का अपना उपयोग बनाये और इस ही में अपने आपको रत करे तो इस पौरुष से आत्मा को मुक्ति की प्राप्ति होती है। तो परमकल्याण का लाभ आत्मा के पुरुषार्थ से ही होगा, कर्म से नहीं, भाग्य से नहीं। बल्कि भाग्य के फूटने से, कर्मों के नाश से परमकल्याण प्राप्त होता है। तो पुरुषकारनय के प्रयोग के साधन का परिणाम यह होता है कि आत्मा में सदा के लिए पवित्रता होना, ज्ञानानन्द रहना, पूर्ण विकसित होना, कभी संकटों में न आना यह सब अपने पुरुषार्थ से होता है, किसी देवभाग्य से नहीं। ऐसा जानकर यह प्रयोग करना चाहिए कि अपने आपके स्वभाव का दर्शन, श्रद्धा, ज्ञान और आचरण करें। यह काम सुगम है, अपने द्वारा शक्य है। जो वस्तु पर है, उसे अपना न मानें तो इसका क्या बिगड़ रहा है? जो वस्तु पर है उसकी चिन्ता न रखें, उसमें लगाव न बनायें, उसे दिल में न बसायें तो इससे आत्मा का क्या बिगाड़ है? बल्कि यह सुधरता है। तो जब अपने स्वरूप का दर्शन ज्ञान, श्रद्धान और आचरण करें तो इस पुरुषार्थ से आत्मा को परमकल्याण की सिद्धि प्राप्त होती है।

देवनय में आत्मपरिचय का प्रकार— अब देवनय से आत्मपरिचय कराया जाता है। संसार में जितने भी कार्य होते हैं- सम्पदा मिलना, इज्जत मिलना, आराम मिलना, विषयसाधन मिलना आदिक, जितनी भी इष्टसिद्धियाँ लोक में मानी जाती हैं वे सब दैवोदय से प्राप्त होते हैं। ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि उस प्रकार की सातावेदनीय आदिक पुण्यप्रकृतियों का उदय आये तो ऐसे ही साधन स्वयं जुटते हैं, स्वयं ऐसी बात बनती है कि यह जीव साता प्राप्त करता है और मन में हर्ष मानता है। तो लौकिक जितने भी कार्य हैं वे श्रम से न होंगे किन्तु देव से, भाग्य से होंगे। यहाँ जो विषमता नजर आती है कि कोई सुखी है, कोई दु:खी है। कोई पुरुष बहुत ऊँचा अध्ययन करके भी अधिक लाभ नहीं पाता। जैसे बहुत से इंजीनियर थोड़ी भी सर्विस को तरसते हैं और कितने ही पुरुष ऐसे हैं कि विद्याध्ययन अधिक नहीं किया, फिर भी घर में श्रीमान् बने बैठे हैं, कोई ज्ञानी है, कोई कम ज्ञानी है, ये जो नाना प्रकार की विषमतायें हैं, ये देव के अनुसार हैं। कोई चाहे कि हम बहुत अधिक श्रम करें और व्यापार आदिक में लाभ उठा लें तो यह श्रम पर आधारित नहीं है, वह पूर्वकृत सुकृत पर आधारित है। तो लौकिक कार्यों में मुख्यता भाग्य की है और कल्याण प्राप्ति में मुख्यता पुरुषार्थ की है। यद्यपि किसी न किसी प्रकार से पौरुष लौकिक कार्यों में भी सिद्ध होता है। जैसे कि जिस पुण्य के उदय से यह लौकिक लाभ हुआ है वह पुण्य कैसे बंधा? तो इस जीव ने शुभपरिणाम किया तो किसी न किसी प्रकार पुरुषार्थ ही तो किया था। जीव अपने भावों में कुछ विशुद्धता लाये, मंदकषाय वाला बने, यही उसका पौरुष है। तो यद्यपि किसी रूप में पौरुष था, पर वर्तमान में देखा जावे तो जो लौकिक लाभ मिल रहा है वह वर्तमान पौरुष से नहीं, किन्तु पूर्वकृत सुकृत से मिल रहा हैं।

धर्मभाव में ही शांति की संभूति— कुछ ऐसा भी दृष्टिगत होता है कि कोई पुरुष परिणाम तो बहुत गंदे रख रहा, कषायीपने का काम कर रहा, बूचड़खाना खोले हुए है, लोक में अनेक लोग उसकी इज्जत भी करते हैं।

और कहो सरकारी कामों में उसकी पहुँच हो, धन वैभव भी उसके खूब बढ़ रहा हो, विषयों के साधन भी अच्छे जुट रहे हों तो ऐसे व्यक्ति को देखकर मनमाने लोग ऐसा कहने लगते हैं कि ये पुण्य पाप कुछ चीज नहीं है, अथवा धर्म करने की बात तो एक वहमभर की है, जिस तरह भी बने उस तरह यहाँ विषयों की पूर्ति करो। देखो ये लोग बूचड़खाने खोलकर भी बड़े आराम से रह रहे हैं, पर वे तो धन वैभव संतान आदिक से रहित हैं। ये लोग तो धर्म करते हैं फिर भी बड़ी तकलीफ में है। तो धर्म क्या है, वहम है, इस प्रकार का कुछ लोग भ्रम करते हैं, लेकिन इस नय से आँखें खुल जाती हैं। लोक में जितने भी इष्ट समागम मिलते हैं वे भाग्यानुसार मिलते हैं। इसमें वर्तमान का पौरुष काम नहीं कर रहा है। हाँ, जिस पुरुष को धर्मकार्य में लगकर भी क्लेश होता है तो वह पूर्वकृत पापकर्म का उदय है। उसे पूर्वकृत पापकर्म का उदय भोगना पड़ेगा, मगर वर्तमान में उसका भाव विशुद्ध बन रहा है अत: उस हीनता से वह दु:ख भी नहीं मानता तथा आगे के लिए अपना सुन्दर भविष्य का निर्माण भी करता है, और एक जीवघात करने वाला पुरुष भले ही पूर्वकृत पुण्य के उदय से कुछ लौकिक वैभव पा चुका हो, लेकिन वर्तमान में भी वह भीतर क्षुब्ध रहता है और उसका भविष्य भी बुरा बनता है। तो इन लौकिक कार्यों में भाग्य की प्रधानता होती है। तो देवनय से यह विदित होता है कि आत्मा प्रयत्न के बिना पुण्ययोग से इष्टसिद्धि प्राप्त कर लेता है। ऐसी इष्ट बात को निरखकर कोई फुलने की बात नहीं है। ये सब असार बातें हैं। पुण्योदय आया तो क्या? वह भी विकार है, पापोदय आया तो वह भी संकट है। पुण्य और पाप दोनों से रहित जो आत्मा की पवित्र शुद्ध निराकुल दशा रहती है वह ही श्रेष्ठ है। इस नय से जो शिक्षा मिलती है वह भी आत्मकल्याण में प्रेरणा देने वाली है।

पारतन्त्रनय में आत्मपरिचय का प्रकार- अब बतला रहे हैं कि पारतन्त्यनय से आत्मा का कैसा परिचय होता है? पारतन्त्यनय अर्थात् परतंत्रता की दृष्टि। इस नय में प्रतीत होता है कि यह आत्मा कर्मोदयजन्य भावों के कारण परतंत्रता का भोक्ता हो रहा है। कोई अनिष्ट बात भोगने में आ रही है तो वहाँ भी यह आत्मा कर्मोदय से परतंत्र होकर ही तो भोग रहा है। जैसे कहते हैं कि यह वैभवहीन हो गया, भूखा भी रहता है, इसको बड़ी पीड़ा है। अनेक प्रकार के संकट आ गए, परिवार के लोग भी गुजर गए। यह बड़ी पराधीनता में है। तो ऐसा फल उसे क्यों भोगना पड़ रहा है? कर्मोदय के कारण। और यदि कोई पुण्योदय में विषयों में परतंत्र बन रहा है, विषयभोगों में भी तो जीव परतंत्र रहा करता है। बल्कि जीव दु:खों से भी अधिक परतंत्र है सुखों में। जिस पदार्थ से जीव ने अपने सुख की आशा रखी हो उसकी कितनी अधिक आधीनतायें हो जाती हैं। वहाँ भी जो कुछ विषय भोगने पड़ रहे हैं वे भी तो परतंत्रता से भोगे जा रहे हैं। वह परतंत्रता भी कर्मोदयजन्य भावों के कारण मिल रही है। तो यह जीव इस संसार दशा में परतंत्र है। नाना प्रकार के इष्ट अनिष्ट भोगों को भोगना पड़ता है। यों जीव परतंत्र है- यह पारतंत्र्यनय से प्रतीत होता है। यह जीव देहों में बंध बंधकर कितना तकलीफ पा रहा है, कितना परतंत्र हो गया? जीव शरीर के स्वरूप से न्यारा है, पर उस

न्यारेपन से कुछ लाभ नहीं उठा पा रहा कि थोड़ी देर को यह राग से दूर हो जाय, कष्टों से छुटकारा पा जाय? कितना परतंत्र है यह जीव? बाह्य समागमों के मोह, रागादिक के कारण यह जीव कितना परेशान हो गया है? गाय का थोड़े समय का ही जाया हुआ बछड़ा कोई पुरुष गोद में लेकर आगे चलता है तो गाय को भी पीछे-पीछे भागना पड़ता है। कितना परतंत्र हो गया यह जीव। तो यह जीव मोह से, राग से, द्वेष से परतंत्र है। उस परतंत्रता का विकटरूप बन गया है। भाव में परतंत्र हो ही गया, पर देह से भी परतंत्र बन गया। देह से बन्धन में पड़ गया। तो पारतंत्रनय से इस जीव की परतंत्रता मन को दृष्टगत होती है।

स्वातन्त्र्यनय में आत्मपरिचय का प्रकार- स्वातंत्र्यनय से यह जीव स्वतंत्र प्रतीत होता है। प्रत्येक पदार्थ स्व के ही तंत्र हैं। परमार्थदृष्टि से प्रत्येक स्थिति में प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमन से ही परिणमता है। मान लो कुछ स्थितियाँ ऐसी रख लो, जहाँ परतंत्रता अधिक विदित हो वहाँ वस्तुस्वरूप से तो परिणमन स्वतंत्रता का हो रहा है। जैसे ज्वर, खाँसी से कोई पुरुष पीड़ित है तो वहाँ आत्मा में कितना काम बन रहा? खेद मान रहा। और देह में कितना काम बन रहा? जहाँ जो कुछ है, गर्मी है, कफ है, अटक है, जो बात जिस रूप बन रही है वह पुद्गल की परिणति है। तो जीव जब खेद मानता है इस स्थिति में भी क्या शरीर और जीव दोनों मिलकर खेद मान रहे हैं? केवल जीव खेद मानता है। और यह जीव खेद मानता है तो अपनी ही विकारपरिणति से मानता है या शरीर की परिणति लेकर मानता है? अपनी ही विकारपरिणति से मानता है। तो देखो इस स्थिति में भी यह जीव स्वतंत्रता से ही खेद मानने की परिणति कर रहा है। और परमार्थतः तो जीव का स्वातंत्र्य परिणमन तो एक ज्ञाताद्रष्टा रहने का है। उस स्थिति में तो प्रकट ही कोई कुछ सम्बन्ध नहीं रख रहा। तो यों जब निरखा तो विदित हुआ कि सभी जीव परतंत्रता के भोक्ता है। यदि कोई पुरुष किसी कुटुम्ब या मित्र के स्नेह से कुछ क्षोभ मचा रहा है तो वह परतंत्रता से क्षुब्ध हो रहा है। किसी दूसरे के कारण से दूसरे की तरकीब से नहीं। अपने आपमें अपनी कल्पनायें करके क्षुब्ध हो रहा है। तो वह भी स्वतंत्रता का ही तो भोक्ता हुआ।

लौकिक प्रसङ्गों में भी स्वतन्त्रता का दर्शन- लोक में यों लगता है कि राजा तो मालिक है। प्रजा उसके अधिकार में है? राजा किसी को दण्ड देता है, किसी को फाँसी का हुक्म देता है, जल्लाद फाँसी लगाता है तो मालूम होता है कि वह फाँसी पर लटकाया जाने वाला आदमी बहुत परतंत्र है। लेकिन वहाँ भी अगर प्रत्येक वस्तु का स्वरूप निहारें तो प्रत्येक वस्तु का स्वतंत्र ही स्वरूप विदित होता है। फाँसी दिये जाने वाले आदमी में जो बात बनी वह उसकी स्वतंत्रता से, जल्लाद में जो बात बनी वह उसकी स्वतंत्रता से बनी और राजा में जो बात बनी वह राजा की स्वतंत्रता से बनी। और मोटेरूप से मान लो कि उसका उस भव से मरण हो गया, वह आगे गया, वहाँ जीवन पाया। सत्ता तो उसकी नहीं मिटी। तो किसी को कोई मिटा तो नहीं सकता। लोकव्यवहारवश यह सब विदित हो रहा है कि यह इसके आधीन है, लेकिन कोई पदार्थ किसी

वस्तु के आधीन नहीं है। यों स्वतंत्रता की दृष्टि से आत्मा अपनी शक्ति के परिणमन के कारण स्वतंत्र है और स्वतंत्रता का भोक्ता है, यों विदित होता है।

कर्तृनय में आत्मपरिचय का प्रकार- यह जीव अपने आपके परिणमन का कर्ता प्रतीत होता है। वस्तुत: कर्ता नाम तो कहना भी न चाहिए। कर्तापन क्या है? है और होता है। इतनी ही तो बात वस्तु में पायी जाती है और इसी कारण यदि कोई 10-5 मिनट यों ही बोलता रहे या लिखे कि जिसमें सिवाय ''है'' और ''होने'' के कोई तीसरी क्रिया न लायी जाय तो अपना वह लेख लिख सकता है। वह पुरुष जाता है, इसका अनुवाद बन जायगा- उस पुरुष का गमन होता है। 'है' और 'होता है', ये केवल दो ही क्रियायें रखकर यदि कोई बोलना चाहे या लिखना चाहे तो बराबर बोल या लिख सकता है, मगर 'है' और 'होता है' ये दो बातें बिल्कुल न आयें और कोई लेख बनाये तो नहीं बना सकता है। तो ये दो बातें ऐसी अनिवार्य हैं कि वे होती ही हैं। तो यों पदार्थों को भी देखें तो इन दो रूपों में देख लें- 'है' और 'होता है'। यहाँ करने का काम क्या? जीव है रागरूप हो रहा है। इसमें करने की बात क्या? और देखिये- कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का करने वाला होता नहीं, क्योंकि सत्ता न्यारी-न्यारी है। और पदार्थ स्वयं अपने आपमें करे क्या? तो पदार्थ है और परिणमनस्वभाव के कारण उसमें परिणमन होता रहता है। यों परमार्थत: कर्तापन की बात कहीं भी नहीं है। अज्ञानी जीव भी पर का कर्ता नहीं है। अगर अज्ञानी जीव पर का कर्ता बन जाय तो इसका अर्थ यह हो गया कि उसमें भगवान से भी अधिक शक्ति आ गयी, याने प्रभु किसी पर को नहीं कर सकते और इस अज्ञानी ने देखो पर को कर डाला। वस्तुस्वरूप में ही यह बात नहीं है कि कोई पदार्थ किसी पर का कुछ कर सके। अज्ञानी जीव ने परपदार्थ को करने का विकल्प किया, अज्ञानी में पर के कर्तृत्व का विकल्प हुआ। इस ही बात को इन शब्दों में कहा जाता है कि अज्ञानी पर का कर्ता बन रहा है। तो कर्ता कोई किसी का नहीं है। होने की बात है। अब इसी बात को जब हम लौकिक भाषा में बोलते हैं तो कहते हैं कि जीव अपने परिणमनरूप परिणमता रहता है, होता रहता है। तो कर्तृत्वनय से जब आत्मा को निरखते हैं तो वहाँ यह विदित होता है कि यह आत्मा रागादिक परिणामों का कर्ता है। जीव बाह्य का कर्ता नहीं है, बाह्य का करे क्या? और अपने में भी करे क्या? अपने में बात होती रहती है। पर जो बात स्वभाव में नहीं पड़ी है उस बात के होने को कर्ता शब्द से विदित कराया जाता है। तो यह आत्मा कर्तृनय से रागादिक परिणामों का कर्ता है- यह विदित होता है।

अकर्तृनय में आत्मपरिचय का प्रकार- प्रत्येक पदार्थ है, परिणमता है। इस स्वभाव के बल पर जब आत्मा में निरखा जाता है तो वह ''है'' और परिणमता रहता है। प्रत्येक पदार्थ उस ही विधि से परिणमता है जैसा कि उसमें स्वभाव पड़ा है। आत्मा में स्वभाव है चैतन्य, चेतने का प्रतिभासने का। अतएव आत्मा समस्त पदार्थों का प्रतिभासक है, साक्षी है, न कि वह किन्हीं विभावों का करने वाला है। कर्तृनय में जो यह बात देखी थी

कि निमित्त का सन्निधान पाकर आत्मा रागादिक परिणामों का करने वाला है तो उस कर्तृनय की दृष्टि में निमित्तनैमित्तिक भावपूर्वक जो भाव हुआ करता था, कर्तृनय में जाना गया था, उन भावों का यह आत्मा अकर्तृनय की दृष्टि में कर्ता नहीं है, किन्तु उन भावों का भी साक्षी यह आत्मा है आत्मा है चैतन्यस्वरूप, उसका काम चेतने का है। तो जैसे बाह्यपदार्थ का जो जो ज्ञेयाकार परिणमन है अर्थात् ज्ञान ने उन पदार्थों के अनुरूप या समझाने के अनुरूप जो आकार बनाया है उस आकार का जैसे यह साक्षी है अथवा बाह्यपदार्थों का मात्र साक्षी है यों ही आत्मा में निमित्त सन्निधान पाकर होने वाले जो रागादिक भाव हैं उन भावों का भी यह साक्षी है। जैसे बाह्यपदार्थ बाह्य हैं, अपने प्रदेशों से निराले हैं, पर हैं, उनका यह साक्षी है, तो रागादिक भाव भी आत्मा के स्वभाव से निराले हैं, प्रदेश से निराले तो नहीं, किन्तु प्रदेश में स्वभावत: हैं कहाँ? वे तो नैमित्तिक भाव हैं अतएव वे पर हैं और भिन्न हैं। उन भिन्न परभावों का भी यह आत्मा साक्षी होता है, किन्तु कर्ता नहीं होता। तो अकर्तृत्वनय में आत्मा साक्षी दृष्टगत हुआ।

भोक्तृत्वनय में आत्मपरिचय का प्रकार- अब भोक्तृत्वनय और अभोक्तृत्वनय की बात कह रहे है। भोक्तृत्वनय की दृष्टि में आत्मा सुख दु:ख आदिक का भोक्ता होता है। किसे भोग रहा है यह जीव? सुख और दु:ख को। और जब यह जीव सिद्ध हो जाता है तो भोक्ता है आनन्द का। इस सम्बन्ध में सत्कार्यवादी के सिद्धान्त में एक प्रसंग में यह भी बताया है कि आत्मा कर्ता तो नहीं, किन्तु भोक्ता है। उनकी दृष्टि का अगर समन्वय किया जाय तो इस तरह किया जा सकता है कि आत्मा में जो रागादिक परिणाम होते हैं उनका यह स्वतंत्र कर्ता नहीं है क्योंकि वे प्रकृति के उदय का निमित्त पाकर होते हैं। पर जो रागादिक भाव हुए और उनके अनुरूप जो सुख दु:ख परिणाम हुए उन परिणामों का अनुभवने वाला तो यह जीव ही है। उसे प्रकृति या अन्य कोई न भोग जायगा। तो जैसे उनके दर्शन में आत्मा को कर्ता नहीं माना किन्तु भोक्ता माना तो मालूम होता है कि भोगने का सम्बंध विशेष समीप का है। जैसे दर्पण में किसी चीज की छाया आयी तो छाया के होने में दर्पण स्वतंत्र नहीं है। चीज सामने आयी तो छाया बन गई, चीज हट गई तो छाया भी हट गई। तो छाया में आधीनता दर्पण की नहीं हुई। अब उसका अनुभवन कौन करेगा? छायारूप परिणमने की बात तो दर्पण में ही होगी ना। इसी तुलना में यह कहा गया कि यह जीव कर्ता नहीं है, भोक्ता है, जैनदर्शन के अनुसार कर्तृनय में कर्ता है और अकर्तृनय में अकर्ता है। भोक्तृत्वनय में भोक्ता है और अभोक्तृत्वनय में अभोक्ता है। जीव में जो सुख दु:ख आदिक परिणाम होते हैं उनके भोगने वाला यह जीव है। उन सत्कार्यवादियों के दर्शन से अथवा इनकी इस दृष्टि से यह शिक्षा भी ले सकते हैं कि रागादिक परिणामों का करने वाला तो और है निमित्तदृष्टि से, पर भोगने वाला खुद आत्मा है। तो भोगना खुद को पड़ा और भोगना एक महत्त्व की बात है। करे और भोगे। करने में तो कोई भार नहीं पर उसे भोगे यह जीव के लिए भार है। भोक्तृत्वनय की दृष्टि में यह बात विदित हो रही है कि सुख दु:ख आदिक परिणामों का भोगने वाला यह जीव

है। ये सुख दु:ख किसके फल हैं? परमार्थत: जीव की परिणति के ही फल हैं और निमित्त दृष्टि से ये पुद्‌गलकर्म के फल हैं। कर्म का उदय होने पर ऐसी बातें हुआ करती हैं, अत: यह पुद्‌गलकर्म का फल है। ऐसी बातों को देखा जाय तो व्यवहार से यह जीव पुद्‌गलकर्म के फल को भोगने वाला है और अशुद्ध निश्चय से यह जीव सुख दु:ख आदिक परिणमनों का भोगने वाला है, किन्तु परमार्थदृष्टि से जीव में सुख दु:ख परिणमन ही नहीं विदित होते, एकमात्र चैतन्यस्वरूप ही विदित होता है, अतएव वहाँ भोगने की बात ही नहीं उठती। पर भोक्तृत्वनय की दृष्टि में दो नयों की अपेक्षा से अशुद्धनय और व्यवहारनय दो नयों की अपेक्षा से दो उत्तर मिलते हैं। व्यवहार से तो पुद्‌गल कर्मों के फल का भोगने वाला है और निश्चयनय से आत्मा के सुख दु:ख आदिक परिणमन का भोगने वाला है। तो यों भोक्तृत्वनय से आत्मा भोक्ता प्रतीत होता है।

अभोक्तृत्वनय में आत्मा सुख दु:ख आदिक का भोक्ता नहीं है किन्तु केवल साक्षी है। जैसे अकर्तृत्व में यह जीव रागादिक परिणामों का करने वाला नहीं किन्तु साक्षी है, यह विदित हुआ, यों ही अभोक्तृत्वनय में यह जीव सुख दु:ख आदिक का भोगने वाला नहीं किन्तु साक्षी है। सुख दु:ख है उसका भी ज्ञाताद्रष्टा रहता है यह जीव। जो जीव सुख दु:ख का ज्ञाता नहीं रह सकता वह मलिन है और सुख दु:ख में अपने आपको एक कर लेता है। यों पर्यायों में जिनको स्व की बुद्धि है उनकी दृष्टि मिथ्या है। ज्ञानी जीव सुख दु:ख का साक्षी है किन्तु भोगने वाला नहीं और कुछ अन्त:परमार्थदृष्टि रखी जाय और भोगने की बात सोची जाय तो वहाँ वह विदित होगा कि परमार्थ से तो यह जीव अपनी अर्थपर्याय को अनुभवता है जो जीव में जीव के स्वभाव के स्वभाव में अर्थपर्याय बन रही है। चैतन्य का ही जो सहजपरिणमन बन रहा है उसे ही अनुभवने की बात है जीव की। बाह्यतत्त्वों के भोगने की बात जीव में नहीं पड़ी हुई है। अभोक्तृत्वनय की दृष्टि में यह जीव कर्मफल का अथवा सुख दु:ख आदिक परिणामों का भोक्ता नहीं है।

क्रियानय और ज्ञाननय की सापेक्षता बिना किसी के एकान्ताग्रह में सिद्धि से पराङ्मुखता- अब एक विषय प्रसंग ऐसा आ रहा है कि जिसका काम भी बहुत पड़ता है क्रिया और ज्ञान की बात। कोई लोग कहते हैं कि मोक्ष क्रिया से होगा। शुद्धता से रहे, हाथ पैर की प्रवृत्ति ठीक रखें, व्रत, तप, दान, संयम आदिक खूब करें तो ये ही बातें मोक्ष में ले जायेंगी, किन्हीं का यह एकान्त रहता है कि क्रिया तो जड़ की है, शरीर की है। मुक्ति तो ज्ञान से मिलेगी। इन दो विवादों के बीच अगर कोई भी एकान्त कर लिया जाय इस समय जैसे कि ज्ञान से ही मुक्ति मिलेगी और क्रिया की ओर से रहें बेखबर, व्रत, तप आदिक से रखें निरादरता तो उसकी सिद्धि क्या बनेगी? नाम तो ज्ञान का रखेगा और समय-समय पर ज्ञान की बातें कहकर अपने दिल को बहलायेगा। पर प्रवृत्ति वैराग्य के प्रयोग में प्रमादी रहेगा। और जिसने क्रियानय का एकान्त किया है वह क्रिया की ओर ही दृष्टि रखेगा, ज्ञानस्वभाव की ओर से तो बेसुध रहेगा। तो ऐसे क्रिया के एकान्ती भी क्या लाभ उठायेंगे।

क्रियानय में आत्मपरिचय का प्रकार- क्रियानय व ज्ञाननय के सम्बंध में जानना होगा कि क्रियानय से क्या बात जानी जाती है और उसका कितना उपयोग है? ज्ञाननय से क्या समझा जाता है और उसका कितना उपयोग है? क्रियानय से यह प्रतीत होता है कि आत्मा क्रिया, व्रत, तप, चारित्र आदिक से सिद्धि प्राप्त करने वाला है। बहुत विषयकषायों के पंक में फंसा हुआ यह जीव अनादि से किस तरफ का उपयोग बनाये रह रहा है, यह बात यहाँ अपरिचित नहीं हैं। सभी समझते हैं कि इस जीव ने अनादि से लेकर अब तक परतत्त्वों की ओर, विषयों की ओर ही अपना लगाव रखा, उससे अलग होकर कुछ सोचा ही नहीं, ऐसे पुरुष इस लगाव से छूटकर शुद्ध ज्ञानानुभव में कैसे आयें? उसके लिए जब वे सही यत्न करेंगे तब उनकी वृत्तियों में अन्तर आ जायगा। उस समय अव्रतों का पापक्रिया का भंग होगा और इसका आधार व्रत, क्रिया, चारित्र आदिक का बनेगा। जैसे एक थोड़ा स्थूलरूप से समझ लें कि कोई व्यक्ति संयम करता है, कोई व्यक्ति ऐसा है पूजा, दान, व्रत, तप आदिक में बहुत लग रहा है और रहता है घर में ही, तब उसकी जिन्दगी किस प्रकार की बनती है? भले ही वह थोड़ा अपना दिल बहला ले, कुछ ज्ञान की बात कहकर या सीखी हुई बातें सुनाकर, लेकिन उसका जीवन अहर्निश किस प्रकार रहता है, सो यहाँ परख सकते हैं। तो ऐसे पुरुषों को आवश्यक है कि क्रिया व्रत, तप आदिक की ओर आयें। जब ज्ञान में वृद्धि होती है, सत्यज्ञान की ओर प्रगति होती है तो उसकी किसी न किसी अंश में चारित्र में भी प्रगति होनी चाहिए। विषयकषाय जैसी विडम्बनाओं से छूटने का उपाय व्रत, तप आदिक में प्रवृत्ति करना है। दान, भक्ति आदिक में उपयोग का लगाना है, रमाना है। इन उपायों से वह विषयकषायों के घात से बचेगा।

दृष्टान्तपूर्वक क्रियानय व ज्ञाननय की उपयोगिता का दिग्दर्शन- जैसे युद्धस्थल में योद्धाओं को दो प्रकार के उपकरण रखने की आवश्यकता होती हैं- एक तो शस्त्र और एक ढाल। चाहे इनके जमाने-जमाने में और-और तरह के रूप रख लिये जायें, लेकिन इन दो के प्रयोग की जरूरत अवश्य रहती है। ढाल- याने दूसरे के प्रहार का बचाव करने का साधन और शस्त्र- याने दूसरे पर प्रहार कर सकने का साधन। यदि प्रहार का साधन ही रखे और बचाव का साधन न रखे तो उस सुभट का गुजारा न चलेगा और केवल बचाव का ही साधन रखे, प्रहार का साधन न रखे तो युद्ध में जाने का प्रयोजन क्या रहा? तो इसी प्रकार समझिये कि क्रियानय में जो कुछ बताया जाता है वह तो कर्मों से युद्ध करने के अवसर में ढाल का काम करता है और ज्ञाननय से जो कुछ बताया जायगा वह प्रहार का काम करता है। प्रहार और बचाव- इन दो के बिना प्रगति न हो सकेगी। तब समझिये कि क्रियानय भी कितना उपयोगी है? क्रियानय की दृष्टि में यह विदित होता है कि आत्मा व्रत, तप, चारित्र आदिक से सिद्धि प्राप्त करता है। इससे दूर रहकर सिद्धि नहीं पा सकता। और इन्हीं व्रत, तप आदिक के करने में और इनके विश्लेषण में और इनकी पद्धति में ऐसी विशदता आती है

ज्ञानी के कि वही निश्चयक्रिया अन्त:क्रिया की ओर का साधन बन जाती है। तो क्रियानय में व्रत, तप, चारित्रादिक से सिद्धि की बात दिखती है, वह यथार्थ है।

ज्ञाननय में आत्मपरिचय का प्रकार- अब ज्ञाननय की बात निरखिये ज्ञाननय की दृष्टि में आत्मा ज्ञान से ही सिद्धि प्राप्त करने वाला है। सिद्धि कहते किसे हैं? साधना, प्राप्ति, लाभ, किसका लाभ करना? कैवल्य का। आत्मा जैसा है केवल उतना ही रह जाय बस यही सर्वोत्कृष्ट सिद्धि है यह संसारीजीव तो विपत्ति में पड़ा हुआ है जो बाह्यपदार्थों के मेल से सिद्धि समझता है, लेकिन बाह्यपदार्थों के सम्पर्क में न सिद्धि अब तक हुई, न कभी होगी बल्कि विडम्बना ही मिलती है। तो सिद्धि का अर्थ ही यह है कि ज्ञान, ज्ञान रह जाय, केवल जाननहार आत्मा बन जाय उसे सब सिद्धि मिल गयी। तो आत्मा केवल जाननहार बने इसके उपाय में करना क्या होगा? भेदविज्ञान। और केवल जानन की स्थिति के ज्ञानस्वरूप का परिज्ञान। जब यह ज्ञान अन्य सबका जानन छोड़कर केवल जानने के स्वरूप में ही लगता है तो वहाँ जानने वाला भी ज्ञान है और जानने में जो आया वह भी ज्ञान है, और वह ज्ञान भी वह स्वयं ज्ञान है। तो यह ज्ञान स्वयं ज्ञान है। ज्ञान के अलावा अन्य किसी का करने वाला ही कहाँ है? तो यह ज्ञान जब ज्ञानस्वरूप में मग्न होता है तो ज्ञान की स्थिति प्रगति इतनी विशद होती जाती है कि वहाँ ज्ञान ज्ञान ही रह जायगा, जो रागद्वेषादिक कुछ मिलेजुले आ रहे थे वे सब हट जायेंगे। उन विभावों से हटते हुए में यही आत्मा को सिद्धि प्राप्त हुई कहलायेगी, तो ऐसी सिद्धि, जिसका नाम मुक्ति भी है।

सिद्धि और मुक्ति की अविनाभाविता होने पर भी सिद्धि के मर्म की विशेषता- सिद्धि में तो पाने की बात की मुख्यता है और मुक्ति में छूटने की बात की मुख्यता है। पाना और छूटना ये दोनों ही भरे पड़े हैं। जो बाह्य पदार्थ हैं उनसे छुटकारा हो और जो निज तत्त्व है उसका लाभ हो। ये सिद्धि और मुक्ति दोनों पर्यायवाची शब्द क्यों बन गए कि आत्मलाभ और कर्ममुक्ति, स्वभाव सिद्धि और विभावमुक्ति, इन दोनों का परस्पर अविनाभाव सम्बंध है, पर मुक्ति हुए बिना आत्मलाभ नहीं। आत्मलाभ हुए बिना मुक्तिलाभ नहीं। तो ज्ञाननय की दृष्टि में यह विदित हुआ कि आत्मा ज्ञान से ही सिद्धि प्राप्त करने वाला है। ज्ञान न हो तो अन्य क्रियायें कितनी ही हों उनसे क्या सिद्धि होगी? खुद का लाभ होना, खुद में खुद का मिल जाना, खुद में खुद का समा जाना, इसके अतिरिक्त और कौनसी चीज उत्कृष्ट कहलायेगी? क्योंकि जगत में सार नहीं, और कैसा भी जीव यहाँ बन जाय, पर कहीं भी अन्यत्र सार न पायेगा। तो आत्मा विवेक से (ज्ञान से) ही सिद्धि प्राप्त करने वाला है। यह रहस्य ज्ञाननय की दृष्टि में विदित होता है।

व्यवहारनय में आत्मपरिचय का प्रकार- अब अध्यात्मविषय के मूलभूत नयों की दृष्टि में आत्मा का परिचय किस-किस प्रकार होता है? इस प्रसंग में अब प्रसिद्ध चार नयों की बात चलेगी, दो युगलों की बात चलेगी।

पहिला युगल है व्यवहारनय व निश्चयनय और दूसरा युगल है अशुद्धनय व शुद्धनय। तो पहिले युगल में व्यवहारनय से आत्मा का परिचय किस भांति होता है? इस बात का वर्णन कर रहे हैं। व्यवहारनय से आत्मा बंधमोक्ष की अवस्था में रहने वाला है। कोई बंध में, कोई मोक्ष में, बंधन दशा भी दो के सम्बन्ध में हुई और छूटना यह भी दो का सम्बन्ध जानकर बात जानी गई। अथवा यों कह लीजिए कि बंध का वर्णन और मोक्ष का वर्णन व्यवहारनय से हुआ करता है। बंधन में तो यह जीव और कर्म- (दो का) सम्बन्ध चाहिए और छूटने में भी जीव और कर्म दो की बात बताना चाहिये। जीव से कर्म छूटे, कर्म से जीव छूटे और जैसे बन्धन बुरी दृष्टि में देखा जाता है (आदर की दृष्टि में नहीं देखा जाता) इसी प्रकार मोक्ष भी शब्दश: चलकर देखें तो आदर के योग्य नहीं देखा जाता। आत्मा के मोक्ष में आत्मा की शुद्ध बात पड़ी हुई है। इसलिए हम आप भक्तजन मोक्ष का गुणगान करते हैं और मोक्ष को आदर देते हैं। मोक्ष के शब्दार्थ पर दृष्टि दें और वस्तु के सहजस्वरूप पर दृष्टि दें तब यह अन्तर विदित होगा। जैसे किसी को कह दिया जाय कि यह पुरुष कैद में बंध गया तो वह पुरुष भला तो न मानेगा। और कह दिया जाय कि यह पुरुष कैद से छूट गया तो वह भी भला न मानेगा। बन्धन की बात कहने में तो वर्तमान सम्बन्ध बताया है कैद का और छूटने की बात कहने में अतीत सम्बन्ध बताया है कैद का। कैद से छूट गया- इसमें यह बात भरी हुई है कि यह पुरुष कुछ गल्ती पर था, कोई पाप काम किया था, इस वजह से कैद में था, अब समय पूरा हुआ सो छूट गया। इसी प्रकार जब आत्मा को कहते हैं कि यह बन्धन में हैं तब तो यह बात साक्षात् जानी गई कि यह जीव कर्म, राग, शरीर आदिक के सम्पर्क में मलिन है और जब यह कहा गया कि यह जीव कर्मों से छूट गया तो वहाँ यह बात जानी गई कि यह कर्मों से मिला था, ऐसी दुर्दशा थी। तो वस्तुस्वरूप तो नहीं मिला। जो निर्विकल्प है वस्तु के सत्त्व के कारण स्वयं में सहज है अतएव व्यवहारनय की दृष्टि में बंध की और मोक्ष की व्यवस्था बतायी गई है। एकत्व के निश्चय से हट गया। तब व्यवहारनय दृष्टि का उपयोग रख रहा कोई। वस्तु अपने आपके एकत्व में गत है। निज स्वरूप में लीन है। वह दृष्टि कहाँ रही, जहाँ दो पर दृष्टि गई। तो व्यवहारनय से आत्मा का परिचय इस भाँति मिलता है कि यह आत्मा बंध मोक्ष अवस्था की द्विविधा में रहने वाला है।

मानवजीवन के क्षणों को सफल करने की उमंग- हम आपका आज का जीवन कैसा दुर्लभ जीवन है कि जिसमें यदि कोई मानव इस बात के लिए भी तुल जाय कि मुझे इस जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना है, तो यह उससे सुन्दर भविष्य की बात बनेगी। समागम जितना जो कुछ मिला है और जिस समागम के लिए हम अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व न्यौछावर किए जाने पर तुले हैं। वह सब समागम असार हैं, इस आत्मा के लिए रंच भी लाभदायक नहीं है। लाभ की बात तो दूर रहे, बल्कि उस समागम का सम्बंध इस जीव की बरबादी के लिए ही है। यह बात जिसके निर्णय में पड़ी हो वही पुरुष धर्ममार्ग में प्रगति कर

सकता है। यह बात कैसे समझ में आये? यह उपाय जैनसंतों ने भेदविज्ञान और वस्तुस्वरूप का अवगम बताया है।

मोह से परेशानी- जगत के समस्त जीव इस मोह से परेशान हैं। बाह्य चीजों से परेशान नहीं, बाह्य वस्तुवें तो हैं, अपने आपमें हैं, आती हैं, जाती हैं, जो कुछ हो उनका उनमें है, उनसे मेरे में सुधार बिगाड़ कुछ नहीं है, पर मैं ही स्वयं बाह्यवस्तुओं के सम्बंध में कल्पनायें बनाता हूँ और अपने स्वभाव की सुध से अलग हट जाता हूँ, बस यही बेसुधी हम आपकी बरबादी का कारण है। इस जगत में बरबाद होते हुए अनेक कुयोनियों में भ्रमण करते-करते, जिसकी यदि कहानी सुनी भी जाय, किसी जीव में आँखों देखी भी जाय तो दिल दहल जायगा। ऐसी ऐसी कठिन-कठिन कुयोनियां भोगी हैं। कीड़े मकौड़ों का जन्म क्या जन्म है? पशु पक्षियों की कौन परवाह करता है? मारने वाले लोग निर्दयता से उन्हें मारते हैं, दु:खी करते हैं, और ऐसा काटते हैं जैसे सागभाजी बनायी जाय। चित्त में रहम नहीं रहता। ऐसी-ऐसी कुयोनियों में हम आपने भ्रमण किया, दु:ख पाया। वहाँ का समागम कुछ न रहा। कभी पुण्यवश राजा भी हुए तो भी स्वप्नवत् बात है। वे समागम भी कुछ नहीं रहे। और बात तो जाने दो, इस ही जीवन की बात देख लो- बचपन के आनन्द, युवावस्था के आनन्द, जो-जो भी मौज थे वे सब काल्पनिक थे। आज जो भोगसाधन प्राप्त हैं वे भी सब स्वप्नवत् हैं। आज की स्थिति और प्रकार है, अनेक प्रकार की ठोकरें भी सहते जाते हैं और अपने आपके कल्याण के लिए संकल्प नहीं करते।

धर्मरुचि का परीक्षण व जीवन साफल्य का साधन- यों तो भैया धर्म में लगने के लिए बहुत से लोग दिख रहे हैं, दिखें, मगर सचमुच लगन से चल रहे हैं यह परीक्षा होगी तुलना में। जब कभी कोई आकस्मिक दुर्घटना घटती हैं और उसी समय धर्म की भी कोई घटना घटती हो तो उस समय देखिये किस ओर का इसका झुकाव होता है, किसको इसने अपना सर्वस्व समझा है और किसके प्रति यह अपना सर्वस्व न्यौछावर कर रहा है- यह बात इसका प्रमाणपत्र देगा कि वास्तव में इसने धर्म में रुचि की है या केवल दिखावा किया है। यह मनुष्य जीवन कितना दुर्लभ जीवन है, कितनी कुयोनियों से पार होकर आज मनुष्य हैं इसका क्षण-क्षण सफल करना चाहिये। सफलता इसी में है कि अन्य समस्त बाह्यवस्तुओं से उपेक्षा हो जाय और अपने आपके सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूप की रटन लग जाय, यह उपयोग बने तो समझिये हम अपना क्षण सफल कर रहे है। तो भेदविज्ञान, वस्तुस्वरूप का अवगम- ये दो ऐसे मूल उपाय हैं कि जिनके द्वारा हम मोह को दूर कर सकते हैं। यदि इन उपायों को छोड़कर अन्य कोई उपाय बनाया जाय तो उससे मोह दूर नहीं हो सकता। इस उपाय के बिना भगवान की भक्ति भी हो तो प्रथम बात तो यह है कि वह सद्भक्ति न होगी। होगी बहुत लगन के साथ, आनन्द में गद्गद् होकर भी नाचकर, न्यौछावर होते हुए बहुत लगन के साथ भक्ति बनेगी, किन्तु सद्भक्ति न बन पायेगी। तो भेदविज्ञान और वस्तुस्वरूप का अवगम न प्राप्त हो तो मोह दूर करने के

लिए अन्य भी कोई उपाय किये जायें उनसे सफलता नहीं होती। मोह दूर हो सकेगा तो वस्तुस्वरूप के अवगम से हो सकेगा।

मोह मेटने के उपाय का दर्शन- पदार्थ का स्वरूप समझते-समझते जहाँ यह निर्णय किया कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपचतुष्टय में हैं, उससे बाहर उसका रंच भी लेनदेन नहीं है। यह त्रिकाल भी नहीं हो सकता कि कोई वस्तु का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव किसी अन्य वस्तु में पहुँचे। जब यह स्वरूप ज्ञान में आयगा तो वहाँ मोह टूट जायगा। क्या हो जायगा? जिन स्त्री पुत्रों पर आज हम इतना न्यौछावर हो रहे हैं वे ही स्त्री पुत्रादिक वस्तु का वस्तुत्व ज्ञान में आने पर भिन्न लगने लगेंगे। ठीक उतने ही भिन्न जितने कि जगत के समस्त जीव। क्या फर्क? इन कीड़ा, मकौड़ा, पशु, पक्षी या विदेश के लोग या अन्य लोग उनसे इनमें कौनसी विशेषता है कि ये मेरे कुछ कहला सकें? बतलाओ यदि कोई सम्बन्ध हो तो? स्त्री पुत्रादिक का जीव आपका कुछ है क्या? जैसे अन्य सभी जीव न साथ जन्में, न साथ मरे, वहाँ भी क्या साथ? यों तो निगोद में एक साथ जन्ममरण अनन्त जीवों का होता है। कौनसी विशेषता है कि जिससे यह कह सकें कि ये स्त्री पुत्रादिक मेरे हैं ही? रंच भी बात नहीं है। सारा अंधकार अज्ञान है और उस मोह में दबे हैं, परेशान हैं, तो फल होगा कि संसार में जन्ममरण का चक्र बढ़ेगा, और कुछ हाथ नहीं आता है। यहाँ का परिचय यह भी स्वप्न है। क्या परिचय है? इसी परिचय का ही तो कारण है कि जरा-सी बातों में दु:खी होते रहते हैं, ईर्ष्या करते हैं, मैं धनी नहीं हूँ, विद्यावान नहीं हूँ, सारा जगत इस मोह से परेशान है। उस मोह को दूर करने का उपाय है वस्तुस्वरूप का अवगम। भैया ! मोह मेटने का जो खास उपाय है उसके लिए साहस नहीं करते, और दिल बहलाव के लिए सब कुछ है तन, मन, धन, वचन सर्वस्व प्राण तक उस दिल बहलाव के लिए न्यौछावर करने को तैयार रहते हैं, और जो सदा के लिए संकटों से दूर कर सके उस उपाय के लिए कतराता है। और समझते हैं कि समय बचेगा तो कुछ स्वाध्याय भी कर लेंगे, कुछ ज्ञानार्जन भी कर लेंगे। मोहियों का तो वचन में धर्म है उद्देश्य में धर्म नहीं है। अब यह बात किसे समझानी है? खुद ही खुद को समझानी है। खुद के सिवाय कुछ भी नहीं बन सकता। अपने कल्याण के लिए अपने में अपनी बात निरखनी है। तो वस्तुस्वरूप का अवगम कैसे हो, इस ही बात को इस दशमपरिच्छेद में बताया जा रहा है। विभिन्न दृष्टियों में आत्मा का परिचय किस-किस प्रकार मिलता है? बहुत दिनों से यही वर्णन चला आ रहा है।

निश्चयनय के अवलम्बन से मोहापसर की प्रेरणा- प्रसंग में आत्मपरिचय के प्रसंग में कल व्यवहारनय से आत्मपरिचय किस प्रकार होता है? यह बताया था। आज निश्चयनय से आत्मा का परिचय किस प्रकार मिलता है? यह प्रसंग चल रहा है। निश्चयनय एक वस्तु को उस ही स्वरूप में निरखता है। एक का सब कुछ एक में ही निरखता है। जब एक आत्मतत्त्व को उस एक आत्मतत्त्व में ही निरखा तो क्या निरखा गया? जो है सो निरखा गया। स्वरूप है, चैतन्य है वह निरखा गया। क्या और कुछ भी देखा गया? ना। क्योंकि दृष्टि

निश्चयनय की बसी हुई है। जब एक अंतस्तत्त्व के सिवाय और कुछ दिखा ही नहीं इस दृष्टि में रहकर, तो बंध मोक्ष की कहानी कहाँ से आ गयी? एक अद्वैतदर्शन में बंध और मोक्ष की बात नहीं पड़ी हुई है। हम अपने आपको ही जानते रहते हैं अन्य-अन्य प्रकार से। यदि अपने आपका जो सहजस्वरूप है उस प्रकार से अपने को लखते होते तो कभी के पार हो गए होते। यहाँ समझते है कि हम इन वैभवों से बड़े सम्पन्न हैं, धन मिला या परिवार मिला तो उससे बड़ी सम्पन्नता है। लेकिन जरा उन्हें तो निरखिये जो पहिले चक्रवर्ती तीर्थंकर हो गए। जिन्होंने सब कुछ तज करके और आत्मस्वरूप में मग्न होकर मुक्ति प्राप्त कर ली। अब वे मुक्ति में हैं, अकेले हैं। शायद उनसे भी अधिक सम्पन्न अपने को मानते होंगे मोही। अरे क्या सम्पन्नता है? उन चक्रवर्तियों की विभूति भी जब उनकी न रही, वे भी उस विभूति को अपनी न मानते थे, उन सब विभूतियों को त्यागकर उन्होंने जब अपने में अपने आपकी उपासना की तब ही वे संकटों से दूर हो पाये, तो यहाँ क्या सोचा जा रहा है? किस ओर उपयोग लगाया जा रहा है? मनुष्य जीवन के क्षण बड़े दुर्लभ क्षण हैं। क्षणों की सफलता की ओर दृष्टि रहनी चाहिए।

अन्तर्दृष्टि की प्रभृति- अन्तर्दृष्टि का पहिचानने वाला कोई दूसरा नहीं। ज्ञानी पुरुष की जो स्थितियाँ बतायी गई हैं उनमें बाहर से देखने में ऐसा लगता है कि वह खूब फँसा है, लेकिन उनकी अन्तर्दृष्टि तो जब चाहे स्वभाव को छू लेती हो, जब चाहे स्वभावक दृष्टि का स्पर्श करके आनन्द भी लूट लिया जाता हो, इन बातों का दूसरों को क्या पता? और कोई पुरुष खुले रूप में धर्म का ढोंग , धर्म की बात बड़े ढंग से कर रहा हो और अन्त: कभी भी स्वभावदर्शन न होता हो, वह स्थिति भी न बन पाती हो, जो गुपचुप गम्भीरता से अपने आपमें स्वयं बन जाय, उस स्थिति का कभी अनुभव न किया हो, ऐसे भी कोई पुरुष होंगे, इसका भी क्या कुछ पता ले सकते हैं? और पता लगाने की जरूरत क्या है? अपनी बात निरखिये कि स्वयं किस तरह से अपने को मानूँ कि संकटों से पार हो जाऊँ।

धर्म की गली की खोज में- संक्षिप्त और थोड़े शब्दों में शास्त्रोपदेश के मर्म को यदि कहा जाय तो यों कह लीजिए कि मैं अपने को किस प्रकार से समझूँ, बस इस ही पर संसार और मोक्ष का मार्ग लगा हुआ है। मूल बात यहाँ इतनी है कि मैं अपने को कैसा मानूँ? बहुत सूक्ष्म खोज है इसके अन्दर। असली जो गली है वह गली इन सब गलियों में रुलने के कारण खोई हुई है। जैसे कि कोई साधु गंगा नहाने गया। कमण्डल उसका बहुत सुन्दर था। तो सोचा कि यह कमण्डल कहाँ धरा जाय कि जिससे चोरी का डर न रहे और मैं घटों नहाता रहूँ। होते हैं कोई ऐसे आरम्भ करने वाले साधु नाम के। तो उसने यह निर्णय किया कि इस ही नदी के रेत में इस कमण्डल को दबा दिया जाय, और उसके ऊपर थोड़ी रेत चढ़ा दी जाय, फिर जरा भी डर न रहेगा। सो उसने कमण्डल को रेत से ढक दिया, चला गया नहाने। अब अनेक भाईयों ने सोचा कि यह हमारे बड़े पुरुष हैं, और नहाने की यही विधि होगी कि पहिले रेत का एक ढेर लगा दिया जाय फिर

नहाया जाय, सो उन पचासों लोगों ने एक-एक अलग-अलग ढेर लगाया और नहाने लगे। लो उन ढेरों में वह कमण्डल गुम गया। कहाँ ढूंढ़े? ऐसे ही धर्म की कलायें लगती हैं बहुत सी निकट-निकट वाली, धर्म भी करते हैं, पूजा पाठ भी करते हैं, दूसरों का ख्याल भी नहीं रख रहे, घर के काम काज भी नहीं कर रहे, सामायिक में भी दृढ़ता बनाकर बैठे हुए हैं, मौन से हैं, और सब तरफ से अपना दिल भी हटा लिया है, किसी बाह्यपदार्थ में अपना दिल भी नहीं फँसाये हैं, यों बहुत सी बातें धर्म के नाम पर करते हैं, यह भी समझते हैं कि हम धर्म कर रहे हैं। पर धर्म करने की असली गली कौनसी है? वह गली इन सब गलियों में रुल गयी। उस गली का जिसने परिचय पाया है, जो कि सुगमतया मिल जाया करती है बस वही पुरुष धन्य है, वीर है। वह संसार संकटों से पार हो जायगा। तो इस बात पर सोचना होगा, दृष्टि अधिक देनी होगी कि मेरा यह दुर्लभ मानव-जीवन सफल हो। इस जीवन के क्षण प्रतिक्षण हमारे सदुपयोग में जायें, इसकी ओर ध्यान बहुत अधिक रखना होगा, तब जाकर उस भाव की प्राप्ति होगी कि जिस भाव में हम अपने आपके सहज स्वरूप का अनुभवन कर सकें।

नयप्रयोग विधि- सहजस्वरूप का अनुभव कर सकने के लिए मार्ग बताया है निश्चय का, जिस गली से चलकर उस स्वरूप का परिचय पाया जाय। व्यवहारनय से तो विविध निर्णय किये और निश्चयनय से केवल एक ही पदार्थ में एक उस ही सहजस्वरूप की प्रतिष्ठा बनायी। व्यवहार का उपकार था जिससे बहुत कुछ सीखकर हमने निश्चयनय का मर्म जाना और निश्चयनय का उपकार है कि हम इस अद्वैत की गली से चलकर उस निर्विकल्पस्वरूप का अनुभव कर लें। तब ही यह उपाय बताया गया कि व्यवहारनय का विरोध न करके मध्यस्थ होकर निश्चयनय के आलम्बन से मोह दूर करके निर्विकल्प अन्तस्तत्त्व का अनुभव करना चाहिए। निश्चयनय में यह निर्णय आया कि मैं सहज चैतन्यस्वरूपमात्र आत्मा बंधमोक्ष की दुविधा से परे हूँ। जहाँ बाहर झाँका वहाँ दुविधा है और जहाँ अन्त: झाँका वहाँ द्विविधा खत्म। जीवन में बड़े से बड़े संकट आयें और वहाँ भी यह मनुष्य ऐसा अन्त: साहस बनाकर कि जो होता हो हो, जो कष्ट आते हों आयें, जो भी संकट आयेंगे उन्हें मैं समता से सह लूँगा। इस तरह का एक साहस बनाने से कितने ही संकट सुगमता से दूर हो जाते हैं। और एक पुरुष जिस पर कष्ट तो आये नहीं, पर कष्ट आने की सम्भावना दिखे तो झट घबड़ा गया, हाय अब क्या होगा? लो घबड़ाकर, अपने साहस को खोकर उसने बीसों गुणे संकट बना रखे हैं।

भविष्य का मूल भाव- ज्ञानबल, अन्त:चिन्तन यह जड़ है हम आप लोगों के भविष्य की।। किस प्रकार? हमको सर्वप्रथम यह निर्णय करना होगा कि मैं क्या हूँ? इस ही पर तो सारी गलियाँ निकलेगी- संसार में रुलने की गली, संसार से छूटने की गली, संतोष की गली, सुख-दु:ख आदि की गली। ये सभी इस ही बात के निर्णय अनिर्णय पर निकलती हैं। मैं क्या हूँ? प्रत्येक जीव सोचता तो है ही, समझता तो है ही कि मैं क्या

हूँ? किसी ने समझा कि मैं अमुक चंद हूँ, अमुक लाल हूँ, ऐसे परिवार वाला हूँ, ऐसी इज्जत वाला हूँ, अथवा किसी ने समझा कि मैं त्यागी हूँ, व्रती हूँ आदि। यों अपने को सोचने के फल में तो मोक्ष ही मिलता है। और जो सोचता है कि मैं सर्व से अपरिचित केवल चैतन्यस्वरूपमात्र हूँ, जिसको न पहिचानकर, जिसके बारे में लोग कितनी ही निन्दा करें, कितना भी अपमान करें, कितनी ही ईर्ष्या करें, कितना ही कुछ भी सोचें, उसका जहाँ रंच प्रभाव नहीं, अपरिचित ही तो है, सबसे निराला केवल सहज चैतन्यमात्र मैं हूँ। इस तरह जहाँ अपना परिचय बनाया वहाँ सारे संकट समाप्त हो गए। इसी बात के समझने के लिए इस दशमपरिच्छेद में विभिन्न दृष्टियों से आत्मा का परिचय कराया जा रहा है। आत्मतत्त्व क्या है, किस प्रकार का है और वह किस दृष्टि में इस प्रकार नजर आता है? सारांश यह है कि अपने को किसी जाति वाला, कुल वाला, घर वाला, कुटुम्ब वाला, धन वाला मत मानें, और की तो बात ही क्या? अपने को मनुष्य भी मत मानें। यह मनुष्यपना किसी दिन से मिला, किसी दिन खत्म हो जायेगा। मैं शाश्वत: हूँ, इन सब पर्यायोंरूप अपने को न मानकर केवल सहज चैतन्यस्वरूप अपने को मानें तो संसार के संकट सदा के लिए टलेंगे अन्यथा तो संसार में रुलना ही है।

मोह का क्लेश ही महान् अपराध- इस संसार में जो भी दु:ख है वह मोह का है। सिवाय मोह के दु:ख का और कोई साधन नहीं है। क्योंकि जो चीज पर है वह पर ही है, वह अपनी कभी हो नहीं सकती और उसे जबरदस्ती हम अपनी मानते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि हम दु:खी होते हैं। लेकिन इन मोही जीवों को अपनी गलती, गलती नहीं मालूम होती। वे जानते हैं कि हम सच्चा काम कर रहे हैं। ये घर द्वार, बाल बच्चे, धन वैभव हमारे ही तो हैं। और किसके हैं? तो इस मिथ्या मान्यता की गलती सबसे पहिली गलती है। किसी परवस्तु को अपनी मानना, यह तो एक महान् गलती है ही और दूसरी महती गलती यह कर रहे हैं कि इस गलती को वे गलती नहीं समझ रहे हैं। तो ऐसी हालत होने के कारण इस जीव को बड़ी परेशानी है। तो मोह ही इस जीव के लिए एक दु:ख का साधन है।

मोहविनाश का उपाय- मोह कैसे मिटे? पहिले तो यह बात ही मोही के मन में नहीं आती कि इस मोह को कैसे मेटा जाय? और अगर मन में कभी आती भी है तो सही ढंग से नहीं आती। किसी ने सोचा कि घर छोड़ दें तो मोह मिट जायेगा। यद्यपि घर छोड़कर मोह मेटना यह भी एक साधन है, पर घर छोड़ देने मात्र से मोह नहीं छूटता। कोई लोग सोचते हैं कि यह सारा संसार तो ईश्वर की एक लीला है, यहाँ अपना बनकर कुछ भी न रहेगा, ऐसा मान लेने से मोह छूट जायेगा, ऐसा लोग कहते तो हैं, पर भीतर में यह बात नहीं बैठती कि वास्तव में मेरा यहाँ कुछ भी नहीं है। यों मोह मेटने के तो कल्पित अनेक उपाय है, पर एक सच्चा उपाय है वस्तुस्वरूप का यथार्थ परिज्ञान होना। जब वस्तुस्वरूप का सही परिज्ञान बनेगा कि मैं आत्मा एक चैतन्यस्वरूप हूँ और ये धन वैभव, स्त्री पुत्रादिक समस्त परपदार्थ मुझसे अत्यन्त निराले हैं, किसी भी

परवस्तु से मेरा रंचमात्र भी सम्बंध नहीं है, क्योंकि समस्त वस्तुओं का स्वरूप न्यारा-न्यारा है। तो जब वस्तु के स्वरूप का द्रव्य गुण पर्याय के माध्यम से सही परिचय होता है तब जाकर मोह दूर होगा। मैं आत्मद्रव्य हूँ, अपनी शक्ति में ही अपने गुणों में ही तन्मय हूँ, और मेरे में जो परिणति बनती है, उसे कोई दूसरा पदार्थ बना दे या मिलकर बने ऐसा नहीं है। तब यह द्रव्य गुण पर्याय की व्यवस्था समझ में आती है और पदार्थ स्पष्ट भिन्न-भिन्न जँचने लगते हैं तो वहाँ मोह दूर होता है। शान्ति पाने के लिए उपाय तो लोग बहुत से करते हैं जैसे- यात्रा करना, कलायें सीखना, विषयसाधन जुटाना, परिग्रह जोड़ना आदि, मगर इन किन्हीं भी उपायों से शान्ति नहीं प्राप्त हो पाती। शान्ति प्राप्त करने का उपाय है- वस्तुस्वरूप का सम्यक् बोध होना।

शुद्धनय से वस्तुस्वरूप बताने का उपक्रम- वस्तुस्वरूप को बताने के लिए संक्षेप में दो नय बताये गए हैं- शुद्धनय और अशुद्धनय। यहाँ शुद्धनय का मतलब है परमशुद्धनय से, जहाँ भेद भी न ज्ञात हो, कोई मलिनता भी नहीं है। अशुद्धता के दो अर्थ हैं- मलिनता और भेद करना। दोनों प्रकार की अशुद्धता से जो परे भाव है वह शुद्धनय है। जैसे कहा कि जीव में रागद्वेष मोह है तो यह अशुद्धनय हुआ, क्योंकि मलिनता की बात कही और यदि यह कहा जाय कि जीव में ज्ञानगुण, दर्शनगुण, चारित्रगुण है तो यह भी अशुद्धता की बात कही, यहाँ भेद की बात कही गई, पदार्थ जैसा है सही अपने आप, वैसा न रहने दिया, कल्पना में उसका भेद किया, खण्ड किया तो इसे भी अशुद्धता करना चाहते हैं। तो जीव में परसम्बन्ध की व भेद की अशुद्धता मत करो। जीव में देह की अशुद्धता नहीं, सो आत्मा को जुदा देखना, अपने को इस तरह निहारना कि मैं देह से निराला हूँ। जीव में कर्म की भी अशुद्धता नहीं है, सो निहारिये मैं कर्म से भी निराला हूँ। रागद्वेष भाव की भी अशुद्धता नहीं है। मैं रागद्वेष से निराला हूँ और जो अन्य परिणमन शुद्ध परिणमन चलते हैं, जिनमें रागद्वेष नहीं है ऐसे परिणमन भी मेरे स्वरूप नहीं हैं, क्योंकि मैं शाश्वत हूँ। पर्यायें क्षणिक हैं, इस कारण से उन पर्यायों से भी निराला हूँ और आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिक शक्तियाँ हैं, लेकिन आत्मा कोई आधार हो और ये शक्तियाँ उस आत्मा में रख दी हों, ऐसी बात नहीं अथवा आत्मा ही सत् हैं, शक्तियाँ सत् नहीं हैं, क्योंकि शक्तियाँ तो सत् के कल्पित अंश हैं। तो जो अभेद वस्तु है उसमें भेद करना, इतनी भी अशुद्धता नहीं है। यों मैं उपाधि से रहित औपाधिक भावों से रहित, भेदातीत, ऐसा शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। यह विषय शुद्धनय का है, तो शुद्धनय से आत्मा का किस ढंग से परिचय होता है? यह बात यहाँ बतायी जा रही है।

शुद्धनय में आत्मतत्त्व का परिचय करने के अनन्तर अशुद्धता के विकल्प की परिस्थिति- शुद्धनय में अपना आत्मा यों प्रतीत होता है कि मैं परवस्तुओं से निराला, शरीर से निराला, कर्म से निराला, रागादिक भावों से निराला और शक्तिभेद से निराला केवल चिन्मात्र हूँ। यह परिचय शुद्धनय के परिचय का है। अब इस शुद्धनय से जैसे हटे, वहाँ प्रतिभात चिन्मात्रस्वरूप से जैसे हटे कि वहाँ अशुद्धतायें विदित होती हैं। शुद्धपर्याय का वर्णन करना भी इस प्रसंग के विषय में अशुद्धता है। वस्तु के सहजस्वरूप का निरखना, जिसने यह उद्देश्य

बनाया है उस उद्देश्य में जहाँ कहीं थोड़ा फर्क हुआ कि इस ज्ञानी को कुछ न कुछ थोड़ा क्षोभ होगा। जैसे जिसको पूर्ण शुद्ध सोना का ले लेना, बेचना, देखना, निरखना, छूना पसंद है उसके हाथ में यदि कोई थोड़ा भी अशुद्ध सोना दे दे तो वह उसे देखकर झुँझलाता है और फेंक देता है। जिसकी पूर्ण शुद्ध की रुचि है वह रंच भी अशुद्धता पर झुँझलाता है, यों ही जैसे अभेद निरुपाधि शुद्ध अंतस्तत्त्व की रुचि है और उस रुचि के मार्ग में चल रहा है कोई ज्ञानी, उस जगह यदि इतना भी भेद कर दिया जाय- आत्मा में दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है तो उसे झुंझलाहट होती है। कहाँ तो हम एक अभेद आत्मस्वभाव के अनुभव का आनन्द लेने के निकट थे और भेद करके विकल्प में डाल दिया गया, यह बात उसे सहन न होगी। तो परमशुद्ध से जब उपयोग हटता है तो पहिली अशुद्धता यह आती है कि जीव में शक्तिभेद कर दिया जाता है। आत्मा में ज्ञानगुण, दर्शनगुण, चारित्रगुण, आनन्दगुण आदिक अनेक गुण हैं, इस प्रकार का भेद कर दिया जाता है।

परिणति व अपूर्णविकास की अशुद्धता- अब इसके बाद जब और अशुद्धता में आते हैं तो आत्मा में परिणतियाँ निरन्तर होती रहती हैं। एक अवस्था बदली, दूसरी अवस्था आयी, यों नवीन अवस्था आना, पुरानी अवस्था विलीन होना, यों अवस्थाओं का होते रहना प्रतीत होता है, किन्तु इस ज्ञानी को तो शुद्ध अंतस्तत्त्व की रुचि जगी है, वह अभेदनिरुपाधि आत्मस्वभाव को देख रहा है, उसे झुंझलाहट हो जाती है। जब पर्याय की बात सामने आती है तो दूसरे नम्बर की यह परिणतिमात्र की अशुद्धता विदित होती है। इसके बाद जब और अशुद्धनय में चलते हैं तो वितर्कविचार आदिक जो गुण के ही अधूरे विकास हैं उनका परिचय होता है। गुणों का अधूरा विकास होना भी अशुद्धता है। यहाँ अशुद्धता का अर्थ है निरुपाधि अभेदस्वभावमात्र वस्तु के उपयोग से हट जाना। चाहे शुद्धपर्याय की बात हो वह भी इस प्रसंग में अशुद्धता है और शक्तिभेद की बात हो वह भी इस प्रसंग में अशुद्धता है। तो तीसरे नम्बर की अशुद्धता प्रतीत हुई ज्ञानादिक के अधूरे विकास वाली बात की।

अव्यक्त राग, व्यक्त राग, मोह, कर्मसम्बन्ध व देहसम्बन्ध की अशुद्धतायें- इसमें और चौथे नम्बर की अशुद्धता जानी गई अव्यक्त रागादिक की बात। श्रेणियों मे साधुजनों के जो रागद्वेष भाव उठते हैं वे अव्यक्त हैं। उन साधुवों तक को पता नहीं होता और वह राग विकार बनता है और उनके अनुसार बंध भी चलता है। तो अव्यक्त रागादिक भावों की अशुद्धता प्रतीत हुई। तो यहाँ तक कितने क्रम हुए अशुद्धता में? पहिली अशुद्धता- भेद पड़ा, दूसरी अशुद्धता— परिणतियाँ जाना, तीसरी अशुद्धता- गुणों का अधूरा विकास होना। चौथी अशुद्धता- अव्यक्त राग जाना। अब इसके बाद जब 5 वीं अशुद्धता पर चलते हैं तो वहाँ विदित होते हैं व्यक्त रागद्वेष। जो रागद्वेष व्यक्त हैं, हम आपके बोलने में आते हैं उन रागद्वेषों की अशुद्धता प्रतीत हुई। फिर इसके पश्चात् जब छठवीं अशुद्धता पर आये तो वह छठवीं अशुद्धता है मोह की। जीव में जो मिथ्यात्व भाव है उसकी अशुद्धता राग की अशुद्धता से भी बढ़कर है। रागद्वेष की अशुद्धता तो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि के भी होती

रहती है लेकिन मोह की अशुद्धता तो मोहांध जीवों के ही होती हैं। इसके पश्चात् 7 वीं अशुद्धता होती है परपदार्थ के सम्बन्ध की। अब तक एक ही जीव के परिणमन की बात चली थी अथवा एक ही जीव के गुणपर्यायों की बात। जब दूसरे पदार्थ का सम्पर्क जोड़ा जाता है तब यहाँ और विशेष अशुद्धता कहलायी। यद्यपि यह अशुद्धता जीव में नहीं है कि परपदार्थ का मेल जीव में हो गया हो, लेकिन वर्णन में अशुद्धता आती है। जो जीव देहमय है, देहरूप है, देह को जीव को एक करने की बात आती है वह 8 वीं अशुद्धता है। इससे पहिले कर्म के सम्बन्ध की अशुद्धता है वह 7 वीं अशुद्धता है। फिर ये सारी अशुद्धतायें हैं, जिनका आत्मा में एकक्षेत्रावगाह भी सम्बन्ध नहीं है वे सब अशुद्धतायें हैं।

शुद्धनय के प्रयोग से हटने के अनन्तर प्रथम व द्वितीय अशुद्धता का ईक्षण- यहाँ शुद्धनय और अशुद्धनय की बात चला रहे हैं। शुद्धनय का अर्थ किया गया है कि परसम्बंधरहित, औपाधिकभावरहित और भेदभावरहित केवल एक चिन्मात्र स्वभावमय अन्तस्तत्त्व का देखना यह है शुद्धनय। जब इस शुद्धनय से हटते हैं तो अशुद्धनय में उपयोग पहुँचता है। तो ऐसे अशुद्धनय के स्थान कुछ और बढ़ाकर 9 प्रकार की अशुद्धता भी कह सकते हैं। शुद्धता तो केवल एकरूप ही है। भेदरहित, औपाधिक भावरहित, परसम्बंधरहित, केवल चैतन्यस्वभाव को निरखना, यह है शुद्ध की उत्कृष्टकोटि। जो जब शुद्धनय से हटे तो पहिली अशुद्धता यह आयी कि आत्मा में स्वभाव स्वभाववान का भेद कर दिया जाय। आत्मा का चैतन्यस्वभाव है, इतना भी वर्णन अशुद्ध कथन हुआ। आत्मा चित्स्वभावमात्र है, यह तो शुद्ध कथन है और आत्मा में चैतन्यस्वभाव है यह अशुद्धपद्धति हुई। स्वभाव और स्वभाववान का भेद करके समझिये वहाँ अशुद्धता की पद्धति हुई। अब लो यों अशुद्धता की 10 दशायें हो गयी। ख्याल में आने से एक दशा और बढ़ा ली गई। तो ये सब नय जितने प्रकार के अभिप्राय हैं उतने ही प्रकार के होते हैं, इसलिये नयों में संख्या का नियतपना नहीं है। लेकिन नयों की जो मूलपद्धति है वह नियत है। नयों की मूलपद्धति भेद और अभेद है। जहाँ अभेद है वह है शुद्ध कथन और जहाँ भेद है वह है अशुद्ध कथन। तो प्रथम तो स्वभाव और स्वभाववान का भेद किया। दूसरी अशुद्धता है- आत्मा में दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है, ऐसी गुण की बात कही तो गुणभेद किया, शक्तिभेद किया।

परिणति व परसम्पर्क की अशुद्धतायें- परिणति की बात, अर्थपर्याय की बात नवीन परिणति होती है, पुरानी परिणति विलीन होती है और ऐसी परिणति की बात जिसमें विशेष परिणति न हो, सामान्य वर्णन, निर्विशेष भी परिणति का कथन करना यह तृतीय अशुद्धता है। फिर इसके पश्चात् गुण के शुद्ध परिणमन पर दृष्टि देना शुद्ध परिणमन है और वह भी मिटता है, दूसरे समय में नवीन शुद्ध परिणमन होता है। आत्मा के शुद्ध परिणमन में धारा शुद्ध परिणमन की ही चलेगी, लेकिन वे भी तो समय-समय में नये नये हैं ना। तो शुद्ध परिणमन की बात कहना यह है चौथी अशुद्धता। इसके बाद गुणों के अधूरे विकास की बात होना यह 5 वीं अशुद्धता है। पश्चात् अव्यक्त राग की बात कहना छठवीं अशुद्धता है। जैसे 8 वें 9वें गुणस्थान में जो रागद्वेष

चलते हैं वहाँ उन साधुवों को भी वे रागद्वेष स्पष्ट विदित नहीं हैं पर वे अपना काम करते ही रहते हैं। फिर व्यक्त रागद्वेष की बात 7 वीं अशुद्धता है। जैसे कोई जीव क्रोध कर रहा है तो चेहरे से ही जान रहे हैं अथवा खुद की कषाय का खुद को ज्ञान रहता है। फिर मोह की अशुद्धता 8 वीं अशुद्धता है। राग की मलिनता से मोह की मलिनता विशेष है, एक तो गलती करना और एक गलती करते हुए भी गलती को गलती न समझ सकना। तो राग की गलती करके भी राग की गलती समझ में न आ सके, बस यह मोहभाव है। इसके बाद 9 वीं अशुद्धता है अपने को कर्मसहित मानना। कर्मों से अपने को एकमेक करना यह 9 वीं अशुद्धता है। 10 वीं अशुद्धता है देह से अपने को एकमेक मानना। इसके बाद फिर जितने भी घर, मकान, कुटुम्ब, मित्रादिक पदार्थ हैं उन पदार्थोंरूप भी अपने को समझना, ये सब अनेक सम्पर्क वाली अशुद्धतायें हैं।

नयों के अवगम से उपलभ्य शिक्षा- अशुद्धनय में भी आत्मा का परिचय होता है और वहाँ शिक्षा मिलती है कि यह अशुद्धनय का परिचय है, ऐसा परिचय करके हमको अपना उपयोग कैसा बनाना चाहिये? जहाँ पर वस्तु के सम्बन्ध की अशुद्धता जानी वहाँ शिक्षा मिलती है कि इससे उपयोग हटाओ, यह पर है, जहाँ अपनी पर्याय की अशुद्धता जानी वहाँ उपयोग बनता है, ये बरबादी के कारण हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, इनसे उपयोग हटावें। जब गुणपर्याय की भांति की अशुद्धता जानी जा रही है तो वहाँ शिक्षा मिलती है कि इस भांति कल्पनाओं में भी जब तक रहेंगे तब तक आत्मानुभूति न पायेंगे। यहाँ तक कि जब स्वभाव और स्वभाववान में भेद की कथनी चल रही हो और मालूम हो गया कि यह भेद कथन भी एक प्रकार की अशुद्धता कर देना है, तो वहाँ भी यह शिक्षा मिलती है कि हे आत्मन् ! तू इतना भी भेद न कर और अपने को स्वभावमात्र अनुभव कर। यों सब प्रकार के नयों के परिचय में हमें कल्याण की शिक्षा मिलती है। इस बात का इस दशम परिच्छेद में वर्णन किया गया कि किन-किन दृष्टियों में आत्मा का हमें कैसा-कैसा परिचय मिलता है और उससे हमें क्या शिक्षा प्राप्त होती है?

शुद्धनय की पद्धति का दिग्दर्शन- इस प्रकरण में यह बताया जा रहा था कि किन नयों की दृष्टि में आत्मा का किस प्रकार से परिचय मिलता है, यह बात 73 प्रकारों में बतायी गई थी और उन सब प्रकारों में जो आत्मा का परिचय मिलता है उससे हमें हित के लिए क्या शिक्षा मिलती है? यह भी ध्वनित होता गया था, जैसे प्रकृत प्रसंग की बात को पुन: दुहरायें तो अभी-अभी शुद्धनय और अशुद्धनय की बात कही थी, तो शुद्धनय का अर्थ है अपने सत्त्व के कारण सहज ही आत्मा में जो भाव पाया जाता हो उस भावमय अपने को निरखने की दृष्टि। यदि यहाँ इतना भी भेद निरख लिया गया कि आत्मा में चैतन्यस्वभाव है तो चूंकि भेद किया गया अतएव अशुद्धनय हो गया। यहाँ अशुद्धनय का अर्थ मात्र मलिनता न लेना। यहाँ वह भी अर्थ है और भेद करना भी अर्थ है। वस्तु में जोड़ करना और तोड़ करना- ये दोनों अशुद्धतायें कहलाती हैं। जैसे आत्मा में

रागादिक जोड़ना अशुद्धता है इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान दर्शन आदिक गुणों का तोड़ना यह भी अशुद्धता है। तो इस प्रसंग में जो शुद्धनय का भाव है उसमें केवल एक अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वभावमात्र अपने आपको निरखना, वहाँ स्वभाव स्वभाववान का भी भेद न रखना इस दृष्टि को शुद्धनय की दृष्टि कहते हैं। इससे हमें क्या शिक्षा मिलती है? कल्याण के लिए यही मार्ग अपनाना होता है।

शुद्धनय के एकान्त आग्रह में भी विडम्बना- यहाँ यह बात जान लेनी चाहिये कि अन्य नयों का विरोध रखकर ऐसा अभिप्रायवान पुरुष जब इस नय की दृष्टि में देखता है तो वहाँ ऐसा एकान्त धर्म नजर आता है कि जहाँ फिर अन्य समस्यायें उलझ जाती हैं और मार्ग नहीं मिलता। जैसे कि एक दर्शन है जो जीव को चैतन्यस्वरूप मानते हैं, ब्रह्म को चैतन्यस्वरूप कहते हैं। बात सुनने में भली लग गयी होगी किन्तु जब उसका विश्लेषण किया जाता है तो वहाँ अर्थ निकलता है एक चेतना। कोई पूछ उसका 'क्या जानना' अर्थ क्या है?...नहीं। जानना तो विकार है। जानना तो प्रकृति का धर्म है। उस जानने से अलग है चेतना। तो यह अन्य नयों का विरोध रखकर इस शुद्धनय में उतरने का परिणाम हुआ। जब पूछा कि चेतना भी वह क्या है जिसमें जानना कुछ नहीं है? तो उनका उत्तर होता है कि बुद्धि तो पदार्थों को जानती है, बुद्धि से पदार्थ का निर्णय होता है, और बुद्धि से निर्णय किए गए पदार्थ को चेतने का काम यह ब्रह्म करता है। अब आपने पाया क्या वहाँ? तो सर्वत्र यह बात लेनी चाहिए अन्य नयों का विरोध न करके उसमें मध्यस्थ होकर जिस समय जो बात निरखी जाती है उस दृष्टि में उस विषय को निरखना- एक बात। दूसरी बात यह जानना चाहिए कि जब जिस नय से निरखा जा रहा है तब उस नय से ही निरखना। निरख तो रहे हों किसी नय से और बात उठा देते हों अन्य नय की तो वहाँ उलझनें सामने खड़ी हो जाती हैं। जो नयों को दृष्टि में रखकर बात को समझेगा वह वादविवाद के प्रकरण में न फँसकर स्वतंत्र विहार कर सकता है अन्यथा तो धोखा ही खायेगा। तो शुद्धनय की दृष्टि में क्या निरखा गया? एक चित्स्वभावमात्र। प्रभाव क्या होता है इस निरखने का। रागद्वेष मोह विकल्प के जंजाल से छूटना। और विश्लेषण करके भी देखें तो भला बतलावो- जिसने अपने को सर्व से निराला, देह, वैभव, कर्म, कषाय, विकल्प, विचार आदिक सबसे परे होकर केवल चैतन्यस्वभावमात्र देखा, यों आत्मा का अपना परिचय पाया तो किसी जीव में मोहभाव कैसे होगा? उसके फिर इष्ट अनिष्ट की बुद्धि कैसे जगेगी? यह अमूर्ततत्त्व है और इस ओर ही पहुँचकर जीव अपने कल्याण मार्ग में साक्षात् प्रगति कर पायेगा।

भेदप्ररूपक व अपूर्णविकासनिरीक्षक अशुद्धनय का तत्त्वपरिचय में सहयोग- शुद्धनय से तो हमने सर्वविशुद्ध अन्तस्तत्त्व देखा और जब शुद्धनय से चिगकर अशुद्धनय में आते हैं तो वहाँ हमें बहुत सी बातों का परिचय मिलता है। जैसे आत्मा में चैतन्यस्वभाव है। चैतन्यस्वभाव एक लक्षण है और उस लक्षण से हम लक्ष्य की पहिचान करते हैं लो इसने मदद ही तो दी अपने आत्मतत्त्व को समझने के लिए। इससे और दूसरे दर्जे पर उतरे तो वहाँ जाना कि जिसमें ज्ञान, दर्शन आदिक गुण हैं वह आत्मा है। इसने भी अन्तस्तत्त्व को समझने

के लिए मदद दी। और उतरे अशुद्धनय में जहाँ वितर्कविचार अपूर्व गुणविकास नजर आया, उनसे भी हमें उस शुद्धतत्त्व तक पहुँचने के लिए इसी प्रकार मदद मिली। जैसे जब कभी घटायें छा जाती हैं दिन में उस समय सूर्यप्रकाश यहाँ कम हो जाता है, और घटायें ज्यों-ज्यों हटती हैं त्यों-त्यों सूर्य का प्रकाश बढ़ता जाता है। तो कभी दिखता है कि यह 10 मील में प्रकाश है अब यह 5 मील का प्रकाश हुआ, इस तरह उन प्रकाशों के जो अधूरे विकास हैं उनको निरखकर निरखने वाला यह जानता ही है कि सूर्य में प्रकाशस्वभाव है और वह तो ज्यों का त्यों है। वहाँ यह भेद नहीं पड़ा है, किन्तु उस घटा का निमित्त पाकर ये भेद आ गए। तो ये भेद, ये प्रकाश ये अधूरे विकास यद्यपि नैमित्तिक हैं लेकिन उस प्रकाश को निरखकर जो कि अखण्ड अभेद जैसा है उस पर उसका विश्वास जमता है, इसी प्रकार अशुद्धनय में आत्मा के गुणों का अपूर्व विकास निरखकर जिसके अंतस्तत्त्व की रुचि है वह पूर्णस्वभाव तक पहुँचता है।

मलिनपर्यायप्ररूपक अशुद्धनय से उपलब्ध बोध- देखिये- नयों के परिज्ञान की यह महती कृपा है कि हम किस ढंग से परिज्ञान में चलें कि हम अन्त:स्वभाव तक पहुँच जायें? यह उद्देश्य न भूलना चाहिये। यह उद्देश्य रखकर फिर किसी नय का विश्लेषण करें, आप फिर चुकेंगे नहीं। इसके बाद और अशुद्धनय में चलें जहाँ रागादिक रूप आत्मा हैं इस तरह का परिचय किया है। और यह परिचय मिला अशुद्धनय में कि क्या अशुद्धता है कर्मविपाक का निमित्त पाकर आत्मा में रागादिक विभाव हुआ। निमित्तनैमित्तिक भाव जैसा है वैसा समझ ले और वस्तुस्वातंत्र्य समझ ले तो दोनों बातों को जो यथार्थरूप से समझता है वह पुरुष चुकेगा नहीं। वस्तुस्वातंत्र्य मिट जायेगा, इस डर से निमित्तनैमित्तिक भाव के निर्णय में उपेक्षा करके उसका स्वरूप बिगाड़ना- यह भी एक अपनी कमजोरी है या निमित्तनैमित्तिक भाव बिगड़ जायगा, इस वजह से उपादान को, स्वतंत्रता को, वस्तुस्वातंत्र्य को मना करना- यह भी एक कमजोरी है। विवेकपूर्वक विचार करें तो दोनों बातें यथा अवस्थित दिखती हैं। कर्मविपाक का निमित्त हुए बिना रागादिक परिणाम नहीं होते। इसका रागादिक के साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बंध है। अत: निमित्तनैमित्तिक सम्बंध व्यवस्था है और उसी आधार पर संसार की विडम्बनायें चल रही हैं। इसके साथ ही यह भी निरखें कि निमित्तनैमित्तिक भाव के प्रसंग में भी प्रत्येक पदार्थ अपनी योग्यता से, अपनी शक्ति से, अपने चतुष्टय से अपने आपको परिणमता हुआ रहता है। उत्पादव्ययध्रौव्य ये वस्तु के स्वभाव हैं, वस्तु में यह प्रकृति पड़ी हुई है कि वह नवीन अवस्था रूप परिणमे। और नवीन अवस्था रूप परिणमे, यही हुआ पुरानी अवस्था का विलीन होना। ऐसा होता रहे जिसमें वहाँ मिला ध्रौव्यतत्त्व, ये तीन वस्तु की प्रकृतियाँ हैं, उनको कोई नहीं हटा सकता, उनसे कोई पदार्थ अलग नहीं हो सकता। चाहे मूर्त पदार्थ हो, चाहे अमूर्त पदार्थ हो, चेतन हो, अचेतन हो, सूक्ष्म हो, स्थूल हो, यदि वह है तो उसमें उत्पादव्ययधौव्य अवश्य है। तो पदार्थ अपनी स्वतंत्रता से उस रूप परिणमता है। यह जीव रागादिकरूप हुआ। हुआ क्योंकि उस समय जो निमित्तसन्निधान है, वह अपने में अपना कार्य कर रहा है,

उस सन्निधान के अवसर में इस उपादान में ऐसी कला पड़ी है और उसकी ऐसी योग्यता है कि वह ऐसा सन्निधान पाकर अपने में अपना विभावरूप प्रभाव उपादान में जो विभाव रूप परिणमने की कला है वह कहीं से उधार नहीं लायी गयी, किसी अन्य पदार्थ से नहीं खींची गई। अध्यात्मसूत्र में एक सूत्र आया है- ''निमित्त प्राप्त उपादानं स्वप्रभावत्'' अर्थात् निमित्त पाकर उपादान अपने प्रभाव वाला होता है। आत्मा में जो रागादिक हुए वह है प्रभाव। प्रभाव का अर्थ जो हो सो प्रभाव। यह प्रभाव अन्य वस्तु का नहीं। अन्य वस्तु से नहीं आया, किन्तु आत्मा में आत्मा के चतुष्टय से यह प्रभाव जगा, ऐसी स्वतंत्रता है। तो इन सब दृष्टियों से अशुद्धनय द्वारा निर्णय किया तो वहाँ शिक्षा मिली कि रागादिक भाव नैमित्तिक हैं, औपाधिक हैं, परभाव है, आत्मस्वभाव से विपरीत हैं। इनमें सार नहीं। ये मेरे स्वभाव नहीं हैं। मैं इनमें लगाव न रखूँ, इनसे हटकर निजचैतन्यस्वभाव में ही अपना लगाव रखना, उपयोग रखना यह उचित है।

नयों के अवबोध में तत्त्वरुचिक को हितशिक्षा का लाभ- प्रत्येक नय के अनुरूप बोध से स्वभाव में आने की प्रेरणा मिलती है। यदि हम तत्त्व के रुचिया हैं तो सभी नयों से प्रेरणा मिलती हैं, क्योंकि नयों के नाम ही इस प्रकार हैं। एक और कल्पना करो, जिसको कि नयों से बहिर्भूत कहा उपचार से नयसंज्ञा दी है जिसका नाम उपचरितोपचार कह देते हैं। लोग कहते हैं कि यह मकान, धन वैभव, स्त्री पुत्रादिक मेरे हैं, पर वह किस नय से कहा गया है? किसी एक पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ से कुछ सम्बंध तो है नहीं, सो पदार्थ में सम्बंध मानना उपचार करके कथित किया गया है। उसका अर्थ क्या निकला? अरे ये तो अत्यन्त भिन्न चीजें हैं। कल्पना करके जबरदस्ती इनको अपना मानने वाली दृष्टि की बात कही गई है। तो शिक्षा मिल गई कि इन्हें जबरदस्ती क्यों अपना माना जा रहा है? इसमें तो क्लेश का ही पात्र होना पड़ता है। तो जैसे अशुद्धनय में यह निरखा कि ये रागादिक भाव कर्मोदय का निमित्त पाकर आत्मा में उत्पन्न हुए हैं और अब रागादिक रूप यह आत्मा है। लो वहाँ भी शिक्षा मिली। इससे और नीचे चलकर कर्म, देह, वैभव आदिक का सम्बंध कुछ भी बात लगायी उन सब अशुद्धताओं में हमें उनसे हटने की प्रेरणा मिलती है। तो शुद्धनय में आत्मपरिचय बताकर अशुद्धनय में भी आत्मतत्त्व का परिचय अनेक दृष्टियों से कहा गया था।

विभिन्नदृष्टियों में आत्मपरिचय करके किन नयों का आश्रय करने के कर्तव्य की जिज्ञासा- विभिन्नदृष्टियों में आत्मपरिचय का वर्णन हो चुकने के बाद एक जिज्ञासा यह होती है कि तो आखिर हमको उन नयों में से किन-किन नयों से आत्मा का ज्ञान करना चाहिए? समाधान तो प्राय: होते ही गए हैं इन प्रश्नों के, लेकिन उपसंहाररूप में यह समझिये कि ज्ञान अनेक नयों से कर लेना चाहिये। और नयोमात्र से ही क्या, पदार्थ के जानने के उपायों में पहिले जो चार चीजें मुख्य बतायी गई हैं- लक्षण, प्रमाण, नय और निक्षेप। इन सबका उपयोग कीजिये। लक्षण से तो वस्तु का परिचय कीजिए, परिचय कीजिए, चिन्ह दे करके वस्तु को जानें और नय एवं प्रमाण से वस्तु के स्वरूप का निर्णय करिये। निक्षेप से व्यवहार कीजिए किन्तु अपना

उद्देश्य एक रखिये- एक उद्देश्य रखे बिना हम करेंगे भी क्या? प्रत्येक पुरुष अपने आपमें नित्यप्रति एक अपना मुख्य उद्देश्य रखता है लेकिन उस प्रसंग में अनेक बातें और भी बीच-बीच में आती रहती हैं। जैसे किसी का मकान, बनवाने का मुख्य एक उद्देश्य है तो बीच-बीच में रोड़ी मंगवाना, सरिया मंगवाना, सीमेंट आदि की व्यवस्था करना, ये अनेक बातें आती रहती हैं। ये उद्देश्य की बातें नहीं हैं, ये तो उद्देश्य के साधन में फुटकर बातें हैं। तो यों ही उद्देश्य तो हम आपका एक मुख्य होना चाहिए और ऐसा अनिवार्यरूप से होना चाहिए कि चाहे घर में हों, चाहे मन्दिर में हों, चाहे दूकान में हों, किसी भी जगह हों, इस उद्देश्य में अन्तर न आये। वह उद्देश्य क्या होना चाहिए? मोटेरूप में समझना चाहें तो यों समझ लीजिए कि मैं इस शरीर के झंझटों से छूटूँ और अलग होकर अकेला रह जाऊँ। ऐसा उपाय बनावें कि इस शरीर के सम्पर्क से अलग होकर मैं केवल जो कुछ हूँ अपनी सत्ता से वही अकेला रह जाऊँ।

देह से प्रविमुक्त होने के उद्देश्य की आवश्यकता का कारण- देह से प्रविमुक्त होने का उद्देश्य क्यों होना चाहिये? यों कि शरीर का सम्बन्ध हमारे सारे झंझटों का कारण बन रहा है। भूख, प्यास, ठंड, गर्मी, सम्मान, अपमान आदिक के समस्त कष्ट इस शरीर के सम्पर्क होने के कारण हैं। आपको हर तरह से यही बात समझ में आयेगी कि यदि इस शरीर का सम्पर्क न होता तो हम आप आनन्द में होते। सम्मान अपमान के बड़े भयंकर दु:ख जो हो रहे हैं वे इस शरीर के सम्पर्क के कारण ही तो हो रहे हैं। इस शरीर को यह जीव मानता है कि यह मैं हूँ बस इसी भूल के कारण सम्मान अपमान आदिक के क्षोभ सामने खड़े हो जाते हैं। किसी ने गाली दी तो यह सोचता है कि देखो इसने इन लोगों के सामने इस मुझको गाली दी। तो देखिये तीनों जगह वह इस शरीर से ही सम्पर्क बनाकर निरख रहा है। तो शरीर का सम्बन्ध ही तो समस्त झंझटों का कारण बन रहा है। अत: अपना मुख्य उद्देश्य एक यही होना चाहिए कि हम कोई ऐसा उपाय बना लें कि जिससे इस शरीर के सम्पर्क से हम सदा के लिए छूट जायें। शरीर और जीव, ये दोनों अलग-अलग चीजें हैं। इसी कारण इन दोनों को अलग-अलग भी किया जा सकता है। ये दोनों (जीव और शरीर) एक नहीं हैं। इसी बात को यदि कुछ अन्य दृष्टि से विचारकर निरखें तो यों निरखने में आयेगा कि मुझे तो ऐसा विशुद्ध चैतन्यमात्र रहना है, अन्य मेरा यहाँ कोई काम नहीं है।

परपदार्थों के लगाव में विडम्बना ही सम्भव होने से असारता का प्रतिपादन— धन वैभव बढ़ाकर क्या कर लिया जायेगा? लखपति हो गए, करोड़पति हो गए तो वहाँ शान्ति मिल जायेगी क्या? वहाँ तो अशान्ति ही बढेगी और दुर्लभ जो यह नर जीवन पाया है इसके सदुपयोग से गिर जायेंगे। यह भी जीवन उसी गिनती में आ जायेगा जैसे कि अनन्त भव गुजार डाले। गुजरने के बाद फिर कोई मददगार होगा क्या? भाई धन किसलिए कमा रहे? तो उनका मन उत्तर देता है कि मेरे लड़के अच्छी तरह से सुखपूर्वक रहने लगें। अरे ! मोही पुरुष, लडके तेरे कहाँ है? तू तो एक चैतन्यमात्र सबसे निराला है, अपने आपमें एक है और मरने के बाद तो फिर कौन किसका लड़का और फिर इस दुनिया में जितने लड़के हैं क्या ये कभी तेरे लड़के नहीं

हुए? क्या ये तेरे सम्बन्धी नहीं हुए? एक स्वप्नवत् जरासी जिन्दगी में कुछ परिवार सम्बन्ध मिला, उनको अपना मानकर पूरा मोह का पर्दा अपने आप पर डाल दिया। कुछ लाभ है क्या? किसके लिए इतना अधिक धन कमाने की होड़ मचायी जा रही है? और कमर इस बात के लिए कस रहे हैं कि इन स्त्री पुत्रादिक परिजनों के लिए ही हमारे तन, मन, धन, वचन अर्पित होंगे। अन्य लोग तो सब गैर हैं, उनके लिए यदि कभी कुछ खर्च करने का समय आये तो बड़ा हिसाब लगाना पड़ता है कि कितना निकाल कर दिया जाय? देखो यह कितना गहन मोहांधकार है और किस बात में सार है सो बताओ। लौकिक इज्जत बढ़ा लो, सरकार में नाम कर लिया अथवा कोई मिनिस्टर आदिक की पदवी ले ली, अथवा बड़े-बड़े लोगों में अपने आपका बड़ा सम्मान हो गया, लेकिन अरे मोही, उससे तुझे मिला क्या? तू तो अपने भावमात्र है। अपने भावों से अपनी सृष्टि करता जाता है। अपने आपको निरख और ऐसा विवेक बना ले कि गुपचुप ही अपने आपमें गुप्त रहकर किसी को क्या दिखाना? अपना कल्याण कर लो, अपने आपमें अपने आपको पा लें ऐसा विवेक बना लें। व्यर्थ के विकल्पजालों से हटें, घर वैभव, परिजन, पार्टी आदिक सभी को तिलाञ्जलि दें और तैयार हो जायें एक शुद्ध चैतन्यस्वभाव के निरखने के लिए। बस हे आत्मन् ! तेरा भला हो जायेगा तेरे में तेरे ही पुरुषार्थ से। तो ये सब बातें, ये तैयारी ये अपने स्वरूप के निकट पहुँचने की बातें ये तब ही तो हुई जब कि सभी नयों से हमने सब तरह से निर्णय किया और उनसे फैसला पाया और उनके हुक्म को माना और मान करके हेय से हटें, उपादान में आयें तब ही हमारा श्रेय संभव है, उन नयों में संक्षेपरूप से यदि कुछ बात कही जानी चाहिये तो यह कह सकेंगे कि जो पर्याय और भेद की प्रमुखता रखकर नय हैं उनको जानें, उनके विषय को समझ लीजिए, उनमें मध्यस्थ हो जाइये और जो अभेदस्वरूप की प्रमुखता को लेकर नय हैं उनका उपयोग तो कीजिए। उपयोग तो कीजिए पर यह लक्ष्य न बनाइये कि मुझे इतना ही करके रहना है। इस उपयोग के फल में निर्विकल्प स्वतत्त्व की अनुभूति जगा करती है। लालसा रखिये और इन नयों से अपना उपयोग कर लीजिए। आखिर उद्देश्य अपना यही बने कि मैं अपने आपको निर्विकल्प चित्स्वभावमात्र अनुभवूँ जहाँ अन्य कोई तरंग न उठे।

सर्वजीवों के काम का दिग्दर्शन— हम आप सब स्थितियों में काम क्या किया करते हैं? काम करते हैं जानन का। किन्तु जब किसी का जानना केवल जानना नहीं रह पाता, उसमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि के ढंग से जानना बनता है तो वस्तुत: कर तो रहा है यह प्राणी जानन का ही काम किन्तु, साथ में इष्ट अनिष्ट बुद्धि की मलिनता होने से वह अनेक प्रकार के काम कर रहा है यों लगता है। और कोई शुद्ध जीव भी केवल जानन का ही काम करते हैं किन्तु वहाँ मन, वचन, काय की प्रवृत्तियाँ इष्ट अनिष्ट बुद्धि या कोई बाह्य संग न होने से वहाँ एकदम सीधा स्पष्ट विदित हो जाता है कि लो यह शुद्ध आत्मा तो केवल जानने का ही काम करता है। आत्मा ज्ञानस्वभावरूप है अतएव स्वआत्मा की परख जानन के रूप में ही की जा सकेगी। जानना ही

काम है, ज्ञान स्वभाव है और ज्ञानमय ही यह आत्मतत्त्व है, इस कारण जब हम अपनी जानकारी जाननस्वभाव के रूप से करते हैं तो हमें सन्मार्ग मिलता है और जब अन्य-अन्य ढंगों से जानकारी करते हैं और साथ ही वैसा विश्वास भी बना लेते हैं तो हमें मिथ्यामार्ग पर चलना पड़ता है।

शुद्धनय द्वारा ज्ञात शुद्ध विषय का परिचय— यहाँ शुद्धनय की बात चल रही थी। शुद्धनय ऐसे शुद्ध को बताता है कि जहाँ किसी प्रकार का भेद अथवा परसम्बन्ध की अशुद्धता न हो। तब फिर किस रूप में बताया जाय? तो यह बताने वाली बात न होगी। शुद्धनय तो केवल परख का प्रयोजक है, बताने का प्रयोजक नहीं, व्यवहार का प्रयोजक नहीं। शुद्धनय से जाना, शुद्धनय से जानने का काम करें, उसमें व्यवहार उपदेश न चलेगा, उसकी वृद्धि न बनेगी। तब फिर यह बताया किसने? यह सब अशुद्धनय की महिमा है। उनका बड़ा उपकार है कि जिन्होंने हमें शुद्धनय के निकट पहुँचा दिया है। अब वहाँ शुद्धनय से जाना, इतनी शुद्धदृष्टि से कि जहाँ ज्ञान की व्याख्या करें, समझायें तो इतना भी करने की गुंजाइश नहीं है शुद्धनय की दृष्टि में कि यह ज्ञेय को जानता है इसलिए ज्ञान है, ज्ञेय में रहता है इसलिए ज्ञान है। इतना वर्णन भी शुद्धता में दोष है। वह तो जो ज्ञात हो सो वह ही है अथवा णाओ का अर्थ अमर नाथ कर दें तो वह नाथ जो जाना गया सो ही है। णाओ की दो व्याख्या हो सकती हैं- नाथ और ज्ञाता। वह नाथ तो जाना गया सो ही है। क्या जाना गया? अब नहीं बता सकते क्योंकि वह नाथ है। न अथ, अथ ही नहीं, जिसकी आदि ही नहीं। जिसका आदि अन्त हो उसकी तो व्याख्या बतायी जाय, पर इस निज नाथ की क्या व्याख्या बनायें? वह तो जानने में ही अपना रस, प्रभाव, विस्तार बनाता है।

परमात्मतत्त्व का स्वत: विकास— यह ज्ञानस्वभाव हम आपमें अनादि से है और यह ज्ञानस्वभाव ही विकास में आता है, उसी को परमात्मा कहते हैं। परमात्मा होने के लिए कोई बाहर की चीज नहीं मिलानी पड़ती, बल्कि बाहर की चीजों को हटाना पड़ता है। और बाहर की चीजें हटते-हटते यह स्वयं जो कुछ रह गया, विकसित हुआ, प्रकट हुआ बस वही परमात्मा है। जैसे पाषाण की मूर्ति कोई बाहर की चीज लगाकर नहीं बनायी जाती, उसमें हटाने हटाने का ही काम रहता है, जोड़ने का कोई काम नहीं होता। मिट्टी की मूर्ति बनायी जाय तो वहाँ तो बाहरी चीजें जोड़ने का काम है, किन्तु पाषाण मूर्ति में जोड़ने का काम नहीं। जो पाषाण अटपट लगे हुए थे, जो कि उस मूर्ति का आवरण किए हुए थे बस उन आवरणों के हटाने हटाने का काम किया। आवरण हटे कि वह मूर्ति जो थी सो ही निकल आयी। वह मूर्ति कहीं बनायी नहीं गई। यों ही वह परमात्मा बनाया नहीं गया। वह तो निकल आया। उसमें जो आवरण थे विषय, कषाय, इच्छा, विकार आदिक वे सब हट गए, उसी को कहते हैं परमात्मा। परमात्मतत्त्व के विकास का कितना सुगम उपाय है, पर मन में आये तब ना। हम आपके उपयोग में परमात्मत्व दृढ़ हो तब ना। दृढ़ होना कठिन बात नहीं, व्यर्थ के

जो झंझट रागद्वेष आदि लगे हुए हैं बस उन्हें ही तो दूर करना है। वह भी अपनी भलाई के लिए। एक भी उदाहरण ऐसा नहीं कि रागद्वेष करके किसी ने भला पाया हो।

हमारी वर्तमान स्थिति और धर्मपालन की रीति— यहाँ अनेक जीव आये और चले गए, अपनी-अपनी करामात दिखा गए। रहा क्या? सो बताओ। पर इस मोह बुद्धि ने इस पर्याय बुद्धि ने इस लोक को परेशान कर दिया, बरबाद कर दिया। आज हम आप मनुष्य भव में हैं, अच्छी बुद्धि पाई है, कैसे अच्छे विचार चलते हैं, कैसा अच्छा व्यवहार चलता है। भला इन पशु, पक्षी, कीड़ा, मकौड़ा आदिक योनियों को तो देखो, उनकी क्या दशा हो रही है? हम आपकी भी कभी वैसी ही दशा थी। आज सुयोग से मानव पर्याय पाया, अच्छी बुद्धि मिली, फिर भी इस मानवजीवन को सफल करने का अन्दर से चाव नहीं होता। कुछ थोड़ी देर को धर्म करने का ख्याल करके मंदिर आते हैं पर वहाँ भी क्या गारंटी कि वास्तव में धर्मभाव पूर्वक आते हैं। वास्तव में धर्म नाम है किसका? धर्म नाम है वस्तुस्वभाव का। अपना धर्म है अपने स्वभाव का। आत्मा का धर्म है आत्मा का स्वभाव। आत्मा का स्वभाव चैतन्यभाव। वह धर्म कोई करने की चीज नहीं, पर उस धर्म में दृष्टि करने का ही नाम धर्म करना कहलाता है। धर्म तो स्वत: सिद्ध है, उसमें करना ही क्या है? उसमें अपूर्णता नहीं है, धर्म तो स्वसहाय है, अभेद है, सहजभाव है, उसमें करना क्या? उससे विमुख हो रहा है यह उपयोग बस यही अधर्म में चलना हो रहा, यही उपयोग स्वभाव के सम्मुख आये, उपयोग में स्वभाव जगा रहे, यही धर्म का करना हुआ। तब समझ लेना चाहिए कि हमें आखिर करना क्या है? हमें स्वभावदृष्टि करना है। अब जिसकी जैसी परिस्थितियाँ हैं उन परिस्थितियों में वह स्वभाव दृष्टि करने लायक है अथवा नहीं कितने क्षण ठहर सकता है? उसकी ये परिस्थितियाँ व्यवहारधर्म का रूप दे देती हैं। जो भव्य है, किन्तु अभी राग के गृहस्थी के प्रसंग में रहता हो उसका काम केवल इतनी बात से न चलेगा, कुछ त्याग करना पड़ेगा, अपने को संयत बनाना पड़ेगा। बिना प्रतिज्ञा के, बिना संन्यास के, बिना त्याग के उस वस्तु से संस्कार मिटाना कठिन है। भला जब हमारे नियत काल वाले थोड़े नियम से भी संस्कार नहीं मिटता तो सोचिये मिथ्यासंस्कार तोड़ने के लिए कैसा पौरुष करना होगा? जैसे किसी को भादो सुदी 14 का उपवास करना है तो उसके सोचने में यह भी तो पड़ा है कि चौदश निकलने तो दो और पूर्णिमा का दिन आने तो दो फिर तो हमारा ही राज्य है। (हँसी) याने खूब मनमानी भोजनसामग्री बनाकर भोजन करेंगे। तो थोड़े छोटे नियतकाल वाले नियम से भी पिछला पड़ा हुआ संस्कार नहीं मिटता। लेकिन जब आजीवन का नियम हो जाता है तो फिर वह विचलित नहीं होने पाता। तो आप जब अपना व्यवहार यों रखें दो चार ही समय खाने का अथवा और और भी विषय भोगने के नियम बनायें, अनेक समय परिहार करें तो ऐसी परिणतियों में रहने वाले पुरुष में स्वभावदृष्टि अनेक बार कर सकने की पात्रता बनती है। तो ये बातें सबकी अपनी-अपनी परिस्थितियों के

अनुसार होती है, पर उन सबके बीच भी वास्तविक बात क्या करने की है तो समझना है एक चैतन्यस्वभाव का उपयोग।

नयों की उपयोगिता— बड़े ऊँचे ध्यानों में क्या ध्येय किया जाता है? यही, जो शुद्धनय का विषय है। फिर यह नय विकल्प भी दूर होगा और निर्विकल्प परिणति होगी, यहाँ एक जिज्ञासा यह बनेगी कि अशुद्धनय का फिर वर्णन ही क्यों किया गया? जब सभी नय छोड़ने हैं तो फिर उनके जानने का श्रम ही क्यों किया जाता है? बात यह है कि नयों के जाने बिना आत्मा का परिज्ञान न होगा। और अज्ञानदशा में यह पात्रता नहीं रहती कि कोई व्यवहारनय से गुजरने पर निश्चयनय में आकर, निश्चयनय से गुजरकर स्वानुभूति में परिणत हो याने शान्ति के अर्थ व्यवहार से उत्तीर्ण होकर निश्चय से उत्तीर्ण होकर निर्विकल्प स्वानुभूति में आना यही एक मार्ग है, लेकिन जिसने व्यवहारनय से अथवा तीर्थप्रवृत्ति के साधन से कुछ परिज्ञान भी नहीं किया वह उत्तरोत्तर ऐसे मार्ग में पहुँचेगा कैसे? जो सर्वत: पहिचानते थे उन्होंने यह मार्ग अपनाया था। यह बात हमें उपास्य ॐ के ढांचे से भी विदित होती है। प्राय: सभी दार्शनिक लोग ॐ की उपासना करते हैं और अपने-अपने अभिप्राय के आधार पर ॐ का अपना अर्थ लगाते हैं। ॐ शब्द में कितनी बातें बसी हुई हैं? ॐ का कोई अर्थ लगाते हैं अ उ म् अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तो कोई अर्थ लगाते हैं अ अ आ ऊ म् अर्थात् अरहंत, अशरीर (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय और मुनि। और भी सभी लोग अपने अपने अर्थ लगाते हैं। अब जरा ॐ के ढांचे को तो देखिये— ॐ के आकार में 5 भाग पड़े हुए हैं। पहिले है 3 जैसा अंक, इसके बाद है एक डैस जैसा डंडा और उसके बाद है शून्य, जो उस डैस— पट रेखा के अंत में लगा है। उसके ऊपर है अर्द्ध चन्द्र और उसके ऊपर है शून्य ये 5 भाग हमें साधन की प्रक्रिया बताते हैं। 3 का अंक व्यवहारनय का प्रतीक है, क्योंकि उसमें विषय विविध होते हैं और तीन के मायने विविध। संस्कृत व्याकरण में एक के मायने एक, दो के मायने दो और तीन के मायने बहुत। इसी प्रक्रिया को बताने के लिये एक वचन, द्विवचन, और बहुवचन माने गए हैं, तो यह 3 का अंक व्यवहारनय का प्रतीक है। उस रेखा के बाद जो शून्य है वह निश्चयनय का प्रतीक है, जैसे शून्य में आदि अंत नहीं, शून्य में एकरूपता है, यों ही निश्चयनय के विषय में आदि अन्त नहीं, और शुद्धनय का विषय एकरूप है, अभेद है, अखण्ड, ऐसे यहाँ व्यवहार और निश्चय दो विषय परस्पर में एक दूसरे से भिन्नता रखते हैं, इसलिए अलग-अलग पड़े हैं। कहाँ 3 का अंक है, कहाँ शून्य है, इन दोनों नयों को मिलाने वाली जो रेखा है वह प्रमाण का प्रतीक है। इन तीन सम भागों के ऊपर अर्द्धचन्द्र है जो स्वानुभूति का प्रतीक है। यहाँ तक यह अर्थ हुआ कि व्यवहारनय व निश्चयनय से प्रमाणपद्धतिपूर्वक जानो, फिर उससे भी परे होकर स्वानुभूतिकाल में आवो। इन पौरुष से क्या मिलेगा, उसका निर्देश करने वाला है ऊपर का शून्य। इस आत्मपौरुष के फल में रागादिक से शून्य सहज स्वत:सिद्ध परमात्मत्व की प्राप्ति होगी। अब देखें इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम व्यवहार उपयोगी रहा, उसने उपकार किया

निश्चयनय के निकट पहुँचाने का। इस प्रयोग में प्रमाण का सहाय ही सन्मार्ग पर ला सका। इस सब प्रकाश का फल हुआ स्वानुभूति तथा स्वानुभूति का फल होता है निर्दोष परमात्मत्व की प्राप्ति।

ॐ की प्रक्रिया में निर्णय— इस प्रक्रिया में यही निर्णय भरा हुआ है कि केवल व्यवहारनय कार्यकारी न होगा, केवल निश्चयनय हितकर न होगा, अर्थात् व्यवहारनय की बात छोड़कर, व्यवहारनय का विरोध करके निश्चयनय से भी सिद्धि न होगी, क्योंकि व्यवहार का विरोध कर निश्चयनय के एकान्त में ही तो अनेक दार्शनिक जनों ने अपना-अपना दर्शन बनाया, जिनमें अपरिणामी, नित्य, सदामुक्त आदि अनेक प्रकार की कल्पनायें जगी। इसी प्रकार निश्चयनय की अपेक्षा न रखकर, उसको लक्ष्य में न लेकर व्यवहारनय की बात भी अकिञ्चित्कर है, उससे कुछ सिद्धि नहीं है, जिसने अपना उद्देश्य ही नहीं बनाया वह कितनी ही खटपटें करे उससे फायदा क्या मिलेगा? तो उन नयों को प्रमाण ने साधा, व्यवहारनय से जाना, निश्चयनय से भी जाना, प्रमाण से उनको साधा और नयों प्रमाण से सब कुछ जानकर निर्णय करना है, फिर इन तीनों से परे ऊपर जो अर्द्धचन्द्र इन तीनों को ऊपर छुये हुए नहीं है उस अर्द्धचन्द्र पर आवें, वह है अनुभूति। स्वानुभूति में आयें, स्वानुभूति में निश्चयनय का भी आलम्बन नहीं। व्यवहारनय का तो आलम्बन होगा ही कैसे? समस्त विकल्पों से परे उस अनुभूति में आयें तो फल क्या मिलेगा? शून्य। कोई कहेगा कि फल तो बुरा मिला, शून्य मिला? तो उस शून्य का अर्थ भी समझिये कि शून्य कहते किसे हैं? शून्य कहते हैं केवल ठोस को। जैसे किसी ने कहा कि यह घर सूना है, तो इसका अर्थ हुआ कि घर में केवल घर ही है, अन्य कुछ भी नहीं है। ऐसे ही अगर कहा गया कि आत्मा सूना है तो इसका अर्थ हुआ कि आत्मा में केवल आत्मा ही रह गया है। उसमें अन्य किसी परतत्त्व का लगाव नहीं रह गया है। आत्मा में जब तक ये रागद्वेष, पर्याय, परभाव आदि समाये हुए हैं तब तक आत्मा सूना नहीं। ये सभी खटपटें निकलें उसे कहते हैं आत्मा का सूना होना। जैसे घर में डाकू लोग आ गए तो घर में अशान्ति छा गई, और जब घर से डाकू लोग बाहर निकल गए तो घर के अन्दर शान्ति हो गई। इसी प्रकार इस आत्मा के अन्दर जब तक रागद्वेषादिकरूपी डाकू भरे हैं तब तक आत्मा अशान्त है और जब इन रागद्वेषादिक डाकुवों का उपद्रव आत्मा के अन्दर से समाप्त हो तो आत्मा शान्त हो। याने जब आत्मा सूना रह जाय तब आत्मा को शान्ति प्राप्त है। तो आत्मा को इस शून्य अवस्था के अनुभवन के निकट पहुँचाया निश्चयनय ने और निश्चय के निकट पहुँचाया व्यवहारनय ने। ऐसे निकट पहुँचने पर भी हम स्वानुभव के पात्र बने रहें, इसके लिए निश्चयनय व्यवहार का उपयोग हमारा इस प्रकार होता रहेगा जैसे छठे, 7 वें गुणस्थान में असंख्याते बार परिवर्तन होता रहता है।

निर्विकल्प स्व की अनुभूति में पहुँचने की प्रयोज्यता— बात यह है कि जो जिस कला में निपुण है वह उस कला को अनेक ढंगों से खेला करता है, उसे अड़चन नहीं आती। यों ही जो लोग तत्त्वरमण की लीला में निपुण हैं वे जिस किसी भी प्रकार हो, उस तत्त्व की दृष्टि बना लेते हैं। तभी एक प्रसंग में जिनसेनाचार्य ने

समयसार की टीका में व अमृतचन्द्र जी सूरि ने भी अपनी टीका में बताया है कि यह रागभाव पौद्गलिक और यहाँ तक कह डाला कि निश्चय से राग पौद्गलिक है। अब भला बतलाओ कथन में एकदम विरोधसा लग रहा, पुद्गल के परिणमन हों तो पौद्गलिक कहें लेकिन पुद्गल का निमित्त पाकर उत्पन्न हुए विभावों को पुद्गल में जोड़ा और इसको निश्चयनय की भी संज्ञा दी, सो अब जरा सोचिये वह निश्चय क्या है? उसका पूरा नाम होगा विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चयनय। एक घटना कल्पना में लें। एक प्रश्न हुआ कि ये रागादिक किसके हैं? तो इस प्रश्न का उत्तर ऐसी सावधानी से देना कि आत्मा के चैतन्यस्वभाव पर आँच न आये। निश्चयनय में यही तो किया जायेगा ना? तब ये रागादिक किसके हैं- ऐसा कहने में चैतन्यस्वभाव पर रंच आँच न आये, यह बात बिगड़ती हुई नहीं देख सकें। तब ऐसी स्थिति में आत्मा को तो चैतन्यस्वभावमात्र ही करार करना है और उत्तर भी यह देना है कि ये रागादिक किसके हैं, तो ऐसे मूड में उत्तर होगा- ये रागादिक पौद्गलिक हैं इनका अभिप्राय भी एक ढंग का है, और निश्चय से भी रागादिक पौद्गलिक हैं, इसका अभिप्राय भी अपना एक ढंग का है। दोनों आशयों ने स्वभाव को निर्दोष रखा। जो तत्त्वक्रीणा में निपुण जन हैं वे अपने उपयोग में उस सारभूत तत्त्व को ग्रहण करते हैं। तो समस्त नयों से जानना और जानकर जो आत्मा को स्वानुभूति के निकट पहुँचाने में साधकतम लग रहा हो उस नय का आलम्बन लें और फिर उस नय का भी विकल्प नहीं रखना, उससे अतिक्रान्त होकर अनुभव में पहुँचें, बस यही हम आपका एक परमकर्तव्य है, इसके लिए शान्तिमार्ग के अर्थ बुद्धिपूर्वक यही प्रयत्न करें कि प्रमाण और प्रमाण के अंशों से नयों से आत्मा का परिज्ञान करें और अविकार अंतस्तत्त्व को उपयोग में बराबर रखकर अपने कर्म, कलुष, कलंक इन सबको धोवें पवित्र बनें और आनन्दमय हो सकें, इसी हेतु चाहिए यह कि आत्मतत्त्व के परिज्ञान का सब तरह से उपाय बनायें और अपने जीवन को इसी कार्य में लगायें।

।।अध्यात्मसहस्री प्रवचन चतुर्थ भाग समाप्त।।